* श्रीधीश गीता *

प्रकाशक :

सनातन धर्मावलम्बी धर्म प्रेमी

जनता जनार्दन

देवबन्द (सहारनपुर)

ॐ

卐 श्री गणेशाय नमः 卐

वेद के तीन काण्ड है। कर्म, उपासना एवं ज्ञान।

मनुष्य जीवन कर्म, उपासना एवं ज्ञान से ओतप्रोत है। कर्म एवं ज्ञान का आधार उपासना है।

श्रद्धा से परिपूर्ण एवं परमात्मा की कृपा का पात्र बुद्धि रूपी दिव्य प्रसाद से युक्त मानव भगवान मनु की सन्तान है।

सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार निर्गुण, निराकार अद्वैयादि प्रणव स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के दिव्यातिदिव्य साक्षात्कार की परम योजना प्रदान करता है। अतः सर्व प्रथम सगुण ब्रह्म की प्राप्ति परम लक्ष्य है।

वेदो में पंच देवों (श्री गणेश–विष्णु–शिव–शक्ति एवं सूर्य) की उपासना की आज्ञा प्रदान की है। उपासना विधि में पंचांग का अत्यन्त महत्व है। अपने इष्टदेव की उपासना एवं श्रद्धावन्दनादि कर्तव्य कर्म से च्युत मानव- मानव नहीं है।

पंचांग का स्वरूप यह है—

१–इष्ट देव का पूजन २–हृदय ३–जप एवं सहस्त्रनाम ४–कवच ५- गीता

अपने इष्टदेव की उपासना, पूजन, जप, कवच आदि की विधि का ज्ञान अपने श्री गुरु से कर लेना चाहिए।

परब्रह्म परमात्मा श्री भगवान गणपति है, यह गीता श्रीगणेश उपासना का एक महत्वपूर्ण अंग है। श्रीधीश गीता का प्रागट्य श्री भगवान गणपति के श्रीधीश लोक में हुआ है एवं श्री भगवान

गणपति को श्रीधीश कहते हैं। इसलिए इस गीता का नाम श्रीधीश गीता है। यह साक्षात् श्री भगवान गणपति का विलक्षण स्वरूप है। सदैव इस गीता का नित्य नियमपूर्वक पाठ करना चाहिए। यह धर्म, अर्थ, काम एवं अन्त में मोक्ष प्रदान करती है।

अत्यन्त दुर्लभ एवं जीर्ण अवस्था में प्राप्त श्रीधीश गीता का पुनः मुद्रण कराकर मुमुक्षु की जिज्ञासा पूर्ण करने की चेष्टा की गई है।

हमारा देवबन्द की जनता को सहृदय आशीर्वाद है।

हरि ॐ तत-सत्

चैतन्य

卐 हरि ॐ 卐

सदा श्री प्रभु की शरण रहो।

स्वाध्याय - सद्विचार - सद्आचरण - सत्संग
आत्मशान्ति का आश्चर्यमय
अद्भुत स्वरूप है।

श्री प्रभु का स्मरण आधार है।
सदैव निरन्तर भगवन्नाम का जप करो।

तत् - सत्
श्री मां

मुदा करात्तमोदकं सदा विमुक्तिसाधकं
कलाधरावतंसकं विलासिलोकरक्षकम् ।
अनायकैकनायकं विनाशितेभदैत्यकं
नताशुभाशुनाशकं नमामि तं विनायकम् ॥ १ ॥

नतेतरातिभीकरं नवोदितार्कभास्वरं
नमत्सुरारिनिर्जरं नताधिकापदुद्धरम् ।
सुरेश्वरं निधीश्वरं गजेश्वरं गणेश्वरं
महेश्वरं समाश्रये परात्परं निरन्तरम् ॥ २ ॥

समस्तलोक शङ्करं निरस्तदैत्य कुञ्जरं
दरेतरोदरं वरं वरेभवक्त्रमक्षरम् ।
कृपाकरं क्षमाकरं मुदाकरं यशस्करं
मनस्करं नमस्कृतां नमस्करोमि भास्वरम् ॥ ३ ॥

अकिञ्चनार्तिमार्जनं चिरन्तनोक्तिभाजनम्
पुरारिपूर्वनन्दनं सुरारिगर्वचर्वणम् ।
प्रपंचनाशभीषणं धनंजयादिभूषणं
कपोलदानवारणं भजे पुराणवारणम् ॥ ४ ॥

नितान्तकान्तिदन्तकान्तमन्तकान्तकात्मजम्
अचिन्त्यरुपमन्तहीनमन्तरायकृन्तनम् ।
हृदन्तरे निरन्तरं वसन्तमेव योगिनां
तमेकदन्तमेव तं विचिन्तयामि सन्ततम् ॥ ५ ॥

महागणेशपंचरत्नमादरेण यो न्वहं
प्रजल्पति प्रभातके हृदि स्मरन्गणेश्वरम् ।
अरोगतामदोषतां सुसाहितीं सुपुत्रतां
समाहितायुरष्टभूतिभ्युपैति सौ चिरात् ॥ ६ ॥

॥ ॐ ॥

श्रीधीश गीता

:: विषयानुक्रमणिका ::

—卐—

श्रीधीश गीता

भाषानुवाद सहिता

प्रथम अध्याय

स्वस्वरूपभावनिरूपणम्

सूत उवाच ॥ १ ॥

गुरो ! वेदान्त तत्त्वज्ञ ! वेदार्थद्योतकान्यहो ।
अनेकानि पुराणानि कृपालो श्रावितानि मे ॥ २ ॥
अनेकोपनिषत्सारारूपा गीताश्च कीर्तिताः ।
जातोऽस्म्यहं ततो देव! कृतकृत्यो न संशयः ॥ ३ ॥
आश्रौषञ्च भवत्तोऽहं पुराख्यानप्रसङ्गतः ।
जगत्कर्त्ता जगद्धाता जगज्जन्मादिकारणम् ॥ ४ ॥
जगत्पिता जगद्‌बन्धुभगवान विश्वपालकः ।
परे बुद्धेः स्थितो बुद्धिमधिष्ठाय कृपावशात् ॥ ५ ॥

सूत जी बोले ॥ १ ॥

हे वेदान्त के तत्त्व जानने वाले गुरो ! वेदार्थप्रतिपादक अनेक पुराण अहो ! आपने कृपापूर्वक मुझे सुनाये ॥ २ ॥ और उपनिषद् साररूप अनेक गीताएं भी कहीं हैं। हे देव ! जिससे मैं निस्सन्देह कृतकृत्य हो गया हूं ॥ ३ ॥ पूर्व कथा प्रसंग में मैंने आपसे सुना है कि जगज्जन्मादिकारण, जगत्कर्त्ता, जगद्धाता, जगद्‌बन्धु, जगतपिता, जगत्पालक श्री भगवान् बुद्धि के परे स्थित हैं और वे शरणागत-वत्सल कृपावश बुद्धि में अधिष्ठान करके जीवों को मुक्ति प्रदान

मुक्तिं ददाति जीवेभ्यः शरणागतवत्सलः ।
अतः सम्प्रोच्यते धीश आम्नायैरखिलैरसौ ॥ ६ ॥

इत्यप्याकर्णितं नाथ ! भवतोवदनाम्बुजात् ।
यत्पुरा दिव्यमासाद्य धीशलोकं महर्षयः ॥ ७ ॥
श्रीमद् गणपतदेवांच्छ्रुनदन्तो हिताञ्च्छुमान ।
अनेकोपनिषद्सारोपदेशान्मुक्तिदायकान् ॥ ८ ॥
तवासीमकृपाराशिमय्यास्ते या तदैव माम् ।
दिव्यां धीशर्षिसम्वादरुपां पुण्यमयोमनः ॥ ६ ॥
ज्ञानदां मुक्तिदां श्रव्यां धीशगीतां सुदीपकाम् !
कुरुष्व श्रावयित्वा मां कृतकृत्यं कृपार्णव ॥ १० ॥
कस्मान्महर्षिभिर्धीशलोकः प्राप्तः पुरा प्रभो ! ।
क्व वासो धीशलोकोऽस्ति कथम् वा तत्र गम्यते ॥ ११ ॥

करते हैं। इस कारण उनको सब वेदों ने धीश कहा है॥ ४-६ ॥ हे नाथ! मैंने आपके मुख कमल से यह भी सुना है कि पुराकाल में महर्षिगण ने दिव्य धीश लोक में उपस्थित होकर श्री गणपति देव से मुक्तिप्रद उपनिषत् सार रूप हित और शुभ अनेक उपदेशों को श्रवण किया था॥ ७-८ ॥ अतः मेरे ऊपर जो आपकी अपार कृपाराशि है हे कपासागर ! आप उससे ही मुझे धीश और महर्षि सम्वाद रूप ज्ञान और मुक्ति देने वाली श्रवणीय–अमृतरूप पवित्र दिव्य धीश गीता को सुना कर कृतकृत्य कीजिये ॥ ६-१० ॥ हे प्रभो पुराकाल में महर्षि-गण किस कारण से धीश लोक में पहुंचे थे और वह धीश लोक कहां है किस प्रकार से वहां जाना होता है और गणपतिदेव ने

कान्यध्यात्मरहस्यानि धीशदेवेन प्रोचिरे ।
श्रावयित्वा च तत्सर्वं व्यासतो मां कृतार्थय ॥१२॥
येन श्रौतरहस्यं तत्प्रचार्य्याहं पुनः पुनः ।
मुमुक्षूणां कृते लोके धन्यः स्यां हि स्वयं ध्रुवम् ॥१३॥

व्यास उवाच ॥ १४ ॥

सूत ! ते धर्म्मजिज्ञासाप्रवृत्त्या जन्मसिद्धया ।
भक्त्या गुरोश्च सद्बुद्ध्या विश्वकल्याणसक्तया ॥ १५ ॥
प्रसन्नोऽस्म्यहमत्यन्तं सौम्यात्ते च स्वभावतः ।
यत्त्वं जिज्ञाससे तात ! यत्त्वं वा शंकसे ह्यतः ॥१६॥
तत्समाधानदानेन नितान्तं मोदमावहे ।
यतो मे प्रियशिष्योऽसि मत्कृपापुञ्जभाजनम् ॥१७॥
जिज्ञासुप्राणिवृन्देभ्यः शिक्षादानं निरन्तरम् ।
मुमुक्षुसाधकेभ्यश्च तत्त्वज्ञानोपदेशनम् ॥१८॥

किन अध्यात्मरहस्योंका वर्णन किया था उन सबका विस्तारपूर्व्वक सुनाकर मुझे कृतार्थ करें ॥ ११-१२ ॥ जिससे मैं उन वेदरहस्योंको मुमुक्षु व्यक्तियोंके लिये जगतमें वारम्वार प्रचारित करके निश्चयही स्वयं धन्य होऊँ ॥ १३ ॥

व्यासजी बोले ॥ १४ ॥

हे सूत! तुम्हारी गुरुभक्ति जन्मसिद्ध धर्म्मजिज्ञासाप्रवृत्ति और जगत्कल्याणमें तत्पर सद्बुद्धि से एवं सौम्यस्वभावसे मैं अतिप्रसन्न हूँ इसी कारण हे तात! तुम जो जिज्ञासा करतेहो और तुम जो शंका:करते हो उसका समाधान करनेसे मैं अत्यन्त आनन्दित होता हूँ; क्योंकि तुम मेरे प्रिय शिष्य और अतिकृपापात्र हो ॥१५-१७ ॥ जिज्ञासुप्राणियोंको निरन्तर उपदेशप्रदान, मुमुक्षु साधकोंको तत्त्वज्ञानोपदेश और ज्ञानमय वेदों का जगत्में प्रचार एवं

वेदानां ज्ञानरूपाणां विश्वस्मिंश्च प्रचारणम् ।
तेषां प्रकाशनञ्चास्ति जीवनस्य व्रतं मम ॥१९ ॥
सूत ! विश्वेशमाहात्म्यप्रचारः पुण्यवर्द्धनः ।
स्वभावाद्रोचते मह्यं तत्रासि त्वं सहायकः ॥ २० ॥
सानन्दं पूरयिष्येऽतः प्रार्थनामुत्तमामिमाम् ।
समाहितमना बुद्धया युक्तः श्रद्धान्वितः शृणु ॥ २१ ॥
ब्रह्माण्डमेतत्सप्ताधः सप्तोर्द्ध्वञ्चैव विद्यते ।
चतुर्दशमितेष्वेवं विभक्तं भुवनेष्वहो ॥ २२ ॥
चतुर्दशमितान्येतद्भुवनान्येव कोविदाः ।
ऊर्द्ध्वलोकानधोलोकान् सप्त सप्त वदन्ति च ॥ २३ ॥
स्वाभाविक्यसुरावासभूरधस्ताद् भवेत्तयोः ।
सप्तलोक्यां तथोर्द्ध्वस्था सप्तलोकी च देवभूः ॥ २४ ॥
चतुर्दशमितानाञ्च भुवनानां विराजते ।
मध्यसन्धिस्थितोमृत्युलोको मर्त्यनिवासभूः ॥ २५ ॥
असौ सूत ! किल प्राज्ञैर्भूलोकोऽपि निगद्यते ।

उनका प्रकाश करना मेरे जीवनका व्रत है ॥ १८-१९ ॥ हे सूत ! पुण्य वर्द्धक भगवत्महिमाप्रचारमें मेरी स्वाभाविक रुचि है और जगत्में भगवत्महिमाप्रचारकार्य्यमें तुम सहायक हो इस कारण मैं आनन्द-पूर्वक इस उत्तम प्रार्थनाको पूर्ण करूंगा, समाहितमन बुद्धियुक्त और श्रद्धान्वित होकर सुनो ॥ २०-२१ ॥ यह ब्रह्माण्ड अहो ! सात ऊपर और सात नीचे इसी प्रकार चतुर्दश भुवनोंमें विभक्त है इन्हीं चौदह भुवनोंको ही पण्डितगण सप्त ऊर्द्ध्वलोक और सप्त अधोलोक कहते हैं ॥ २२-२३ ॥ उनमेंसे सप्त अधोलोक असुरोंकी स्वाभाविक आवासभूमि है और सप्त ऊर्द्ध्वलोक देवभूमि है एवं मृत्युलोक चतुर्दश भुवनोंकी मध्यसन्धिमें स्थित होकर शोभायमान है जो मनुष्योंकी आवासभूमि है ॥ २४-२५ ॥ हे सूत ! विद्वान्लोग

पार्थिवो मृत्युलोकोऽस्य पितृलोकोऽस्ति दैविकः ॥ २६ ॥
युद्धे देवासुरे जाते क्वाचित्केऽपि कदाचन ।
तयोर्निवासभूम्योः स्यात् कादाचित्को विपर्य्ययः ॥ २७ ॥
हे सूताध्यात्मराज्यस्य चालका ऋषयो यतः ।
तच्चतुर्दशलोकेषु गतिस्तेषामबाधिता ॥ २८ ।
वासस्थानानि तेषान्तु लोकाः सप्तोर्द्ध्ववर्त्तिनः ।
श्रेण्योऽनेका महर्षीणामूर्द्ध्वलोकेषु सन्त्यतः ॥ २९ ॥
तेषां निवासभूमीनां नाना भेदा निरूपिताः ।
अधोलोका यथा सप्तासुरभावप्रधानकाः ॥ ३० ॥
भवन्त्यसुरराजेण विस्तरान्नियमेन च ।
सर्वदा सर्वथा नूनं नितान्तमनुशासिताः ॥ ३१ ॥
तथा नैवोर्द्ध्वलोकेषु देवराजानुशासनम् ।
आवश्यकं वर्त्तते ते यतः सत्त्वप्रधानकाः ॥ ३२ ॥
ऋषीणां नितरां तत्र सुलभाप्यस्ति सङ्गतिः ।
यस्मान्न पुनरावृत्तिः सत्यलोकस्त्वसौ सदा ॥ ३३ ॥

उसको भूलोक भी कहते हैं इसका पितृलोक दैवीलोक और मृत्युलोक पार्थिवलोक है ॥ २६ ॥ कभी देवासुरसंग्राम होने पर इसका सामयिकरूपसे कहीं कहीं विपर्य्ययभी होता है ॥ २७ ॥ हे सूत ! ऋषिगण अध्यात्मराज्यके संचालक हैं इसलिये उनकी गति चतुर्दश भुवनमें अबाधित है ॥ २८ ॥ परन्तु उनका निवासस्थल सप्त ऊर्द्ध्वलोक है । ऋषियोंकी श्रेणियां अनेक हैं इस कारण ऊर्द्ध्वलोकोंमें उनके वासस्थानके नाना भेद निरूपित हैं। जिस प्रकार सप्त अधोलोक असुरभाव प्रधानहोनेसे वे असुरराजके द्वारा सर्वदा नियमसे विस्तारपूर्वक सर्वथा अत्यन्तही अनुशासित हैं उसीप्रकार सप्त ऊर्द्ध्वलोकोंमें देवराजके अनुशासनकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे देवलोकसमूह सत्त्वप्रधान हैं ॥ २९-३२ ॥ वहां ऋषियोंका समागम भी अत्यन्त सुलभ है।

मुक्तात्मभिस्तपोनिष्ठैर्योगयुञ्जानमानसैः ।
ब्रह्मसद्भावसंयुक्तै ऋषिभिः पूरितोऽस्त्यलम् ॥ ३४ ॥

सम्भवः पुनरावृत्तेः सगुणाखिललोकतः ।
सर्व्वेऽतः सगुणा लोका ऊर्द्ध्वस्थानाधिवर्त्तिनः ॥ ३५ ॥

लोकयोः सन्धिमध्यस्थास्तपःसत्याभिधानयोः ।
नात्र त्वं विस्मयं कुर्य्याः सूत ! दर्भाग्रधीषण ! ॥ ३६ ॥

उर्द्ध्वलोकेषु सर्व्वेषु निश्चितं निवसन्त्यहो ।
यथाधिकारसँल्लब्धि यथास्थानं महर्षयः ॥ ३७ ॥

निर्ज्जरा निखिलाः सूत ! लब्ध्वा येषां सुसङ्गतिम् ।
पारयन्ते स्वधर्म्मस्य पालनं कर्त्तुमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

एकदा मिलिता नैके पुराकाले महर्षयः ।
अध्यात्मतत्त्वजिज्ञासा-सद्वाञ्छाभिश्च प्रेरिताः ॥ ३९ ॥

एकाग्रमानसाः श्रद्धाभक्तिभावसमन्विताः ।
एकतत्त्वयुताः शान्ता धीशलोकमधिश्रिताः ॥ ४० ॥

अपुनरावृत्तिभावको धारण करनेवाला सत्यलोक तो सदा मुक्तात्मा ब्रह्मसद्भावयुक्त तपोनिष्णात और योगाभ्यासपरायण ऋषियोंसे अत्यन्त पूर्ण है ॥ ३३-३४ ॥ सब सगुणलोकोंसे पुनरावृत्ति सम्भव है इस कारण सब सगुण ऊर्द्ध्वलोक तप और सत्यलोककी सन्धिमें स्थित हैं, हे कुशाग्रबुद्धि सूत ! इसमें तुम विस्मय न करो ॥३५-३६॥ अहो यथायोग्य अधिकारके ऋषि सब ऊर्द्ध्वलोकोंमें ही यथास्थान निवास करते हैं ॥ ३७ ॥ हे सूत ! जिनके सत्संगको प्राप्त होकर सब देवतागण उत्तम रीतिसे स्वधर्म के पालन करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ३८ ॥ पुराकालमें एक समय अनेक ऋषि एकत्रित होकर अध्यात्मतत्त्वजिज्ञासाकी सद्वासनासे प्रेरित और एकाग्र

श्रीमद्गणपतिं देवं सज्ज्ञानानन्दविग्रहम् ।
तत्रैत्य भगवन्तं तं प्रार्थयामासुरादरात् ॥ ४१ ॥

ऋषय ऊचुः ॥ ४२ ॥

भगवन् ! धीश ! सर्वज्ञ ! जगन्मान्य ! जगद्गुरो ! ।
कृपातो भवतो वेदान् प्राप्तवन्तो वयं पुरा ॥ ४३ ॥
तेषामर्थानुसन्धाने कृतकार्य्या अभूम च ।
तवास्माभिः परं नैव ज्ञातं रूपं यथार्थतः ॥ ४४ ॥
अतो नैवाभवच्छान्तिरस्माकं चेतसि प्रभो ! ।
वयं शरणमापन्ना भवल्लोकमुपास्थिताः ॥ ४५ ॥
अद्य नः कृपया देहि स्वरूपज्ञानमात्मनः ।
तत्त्वज्ञाननिधेः सारं ज्ञानं तच्छ्रावयामृतम् ॥ ४६ ॥
यत्स्याच्चोपनिषद्रूपमस्मन्निःश्रेयसप्रदम् ।
चिरशान्तिकरं देव ! ब्रह्मानन्दप्रदायकम् ॥ ४७ ॥

चित्त हो श्रद्धा भक्तिभाव और एकतत्त्वसे युक्त एवं शान्त होकर धीशलोकमें पहुंचे ॥ ३९–४० ॥ उन्होंने वहां पहुंचकर उन सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् गणपति देव से आदरपूर्वक प्रार्थना की ॥ ४१ ॥

ऋषिगण बोले ॥ ४२ ॥

हे जगन्मान्य ! हे सर्वज्ञ ! हे जगद्गुरो ! हे भगवन् धीश ! हमने पुराकालमें आपकी कृपासे वेदोंको प्राप्त करके उनके अर्थानुसन्धानमें भी कृतकार्य्यता प्राप्त की है परन्तु हे प्रभो ! आपका यथार्थ स्वरूप हमें परिज्ञात न होनेसे ही हमारे चित्तमें शान्ति प्राप्त नहीं हुई है । अब हम आपके लोकमें उपस्थित होकर आपके शरणागत हुए हैं । कृपया आप अपने स्वरूपका ज्ञान हमें प्रदान कीजिये और तत्त्वज्ञानोंका सार वह अमृतरूपी ज्ञान सुनाइये कि जो उपनिषद्रूप होकर हमारे लिये निःश्रेयसप्रद हो और हे देव ! जो हमें चिरस्थायी शान्ति और ब्रह्मानन्दप्रदानकारी हो ॥ ४३–४७ ॥

गणपतिरुवाच ॥ ४८ ॥

पारङ्गतोऽस्म्यलं विप्राः ! स्वसप्तज्ञानभूमितः ।
सच्चिदानन्दरूपेण विराजे चाहमव्ययः ॥ ४९ ॥
विभुं मामप्यहो भक्ता भावुकाः स्वेच्छया द्विजाः ! ।
नानारूपेषु पश्यन्ति कृतकृत्या भवन्ति च ॥ ५० ॥
रूपहीनोऽस्म्यहं विप्राः ! श्रद्धावन्तस्तथापि मे ।
भक्ता मां स्थूलरूपे वा ज्योतीरूपे निरीक्ष्य च ॥ ५१ ॥
सानन्दाः कृतकृत्याः स्युर्नात्र कार्य्या विचारणा ।
स्युः प्रपञ्चमयादस्मात् स्थूलाद्वै विषयात्परे ॥ ५२ ॥
इन्द्रियौघास्ततः सन्ति तन्मात्राण्यखिलानि च ।
तन्मात्रेभ्यः परे पारे वृत्तयश्च भवन्त्यहो ॥ ५३ ॥
ताभ्यः पारं गता भावा भावेभ्योऽपि परं महत् ।
महतोऽपि परं नित्यं कुर्वते दर्शनं मम ॥ ५४ ॥
ज्ञानिनो योगनिष्णाता भक्ता मे तत्त्वचिन्तकाः ।

श्रीगणपति बोले ॥ ४८ ॥

हे विप्रो ! मैं अपनी सप्त ज्ञानभूमियोंके ऊपर सच्चिदानन्दरूपसे अविनाशी होकर भलीभांति विराजमान हूँ ॥ ४९ ॥ हे ब्राह्मणो ! मेरे विभु होनेपर भी अहो ! भावुक भक्तगण अपनी इच्छाके अनुसार नानारूपमें मेरा दर्शन पाते हैं और कृतकृत्य होते हैं ॥ ५० ॥ हे विप्रो ! मैं रूपरहित हूं तथापि मेरे श्रद्धावान् भक्तगण मेरा स्थूल रूप अथवा ज्योतीरूपमें दर्शन करके आनन्दित और कृतकृत्य होते हैं इसमें विचारकी कोई बात नहीं है । इस स्थूलप्रपञ्चमय विषयसे परे इन्द्रियां हैं, इन्द्रियोंसे परे सब तन्मात्राएँ हैं, अहो ! तन्मात्राओंसे परे वृत्तियां हैं, वृत्तियोंसे परे भाव है, भावसे भी परे महत् है और महत्से परे मेरा दर्शन तत्त्वचिन्तक योगनिष्णात मेरे ज्ञानी

एतद्रूपं परं ज्ञात्वा चिरं शान्तिमवाप्नुत ॥ ५५ ॥
अहमेवास्मि सद्रूपश्चिद्रूपोऽपि महर्षयः ! ।
अहमानन्दरूपोऽस्मि नूनमत्र न संशयः ॥ ५६ ॥
विभुश्च निर्विकारोऽहं निराकारश्च निर्गुणः ।
द्वन्द्वातीतश्च निर्लिप्तो ज्ञानरूपोऽप्यहं ध्रुवम् ॥ ५७ ॥
स्वरूपावस्थितौ मूल-प्रकृतिर्मे महर्षयः ।
मल्लीना भावमद्वैतमाविर्भावयतेतराम् ॥ ५८ ॥
सा व्युत्थानदशायान्तु स्वं रूपं त्रिगुणात्मकम् ।
धृत्वा दृश्यप्रपञ्चस्य सृष्टिस्थितिलयक्रियाः ॥ ५९ ॥
कुर्वाणाऽऽस्ते सदा विप्राः ! मदाज्ञावशवर्त्तिनी ।
मत्प्रकृत्याश्च भो विप्राः ! तमस्सत्त्वरजोगुणाः ॥ ६० ॥
ज्ञायन्ते सच्चिदानन्दरूपैर्भावैस्त्रिभिर्मम ।
नन्वध्यात्माधिदैवाधिभूतभावैरहो त्रिभिः ॥ ६१ ॥
आविर्भूयात्मभक्तेभ्यो ज्ञानिभ्यः सत्त्वरं ध्रुवम् ।

भक्त नित्य करते हैं । इस परम रूपको जानकर आप लोग चिरकाल तक शान्ति प्राप्त करें ॥ ५१-५५ ॥ हे महर्षियो ! मैं ही सत्‌रूप हूँ, मैं ही चित्‌रूप भी हूँ और मैं ही आनन्दरूप हूँ इसमें सन्देह नहीं । मैं विभु निर्विकार निर्गुण' निराकार निर्लिप्त द्वन्द्वातीत और निश्चय ही ज्ञानस्वरूप हूँ ॥ ५६-५७ ॥ हे महर्षिगण ! मेरी मूल प्रकृति स्वरूप-अवस्थामें मुझमें ही लीन रहकर अद्वैतभावको अवश्य उत्पन्न करती है ॥ ५८ ॥ किन्तु हे विप्रो ! वह व्युत्थान दशामें अपने त्रिगुणात्मक रूपको धारण करके दृश्य प्रपञ्चकी सृष्टि स्थिति और लयक्रियाको मेरी आज्ञाके वशवर्तिनी होकर सदा करती रहती है । हे ब्राह्मणो ! मेरी प्रकृतिके सत्त्व रज तम ये तीनों गुण मेरे सच्चिदानन्दमय त्रिभावोंसे जाने जाते हैं। अहो ! मैं ही अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावोंसे ही प्रकट होकर अपने ज्ञानी भक्तोंको

अहमेव प्रयच्छामि तत्त्वज्ञानं न संशयः ॥ ६२ ॥
तदा मे ज्ञानिनो भक्ता भावत्रय्याश्रयाद्ध्रुवम् ।
अघट्यघटनायां या प्रकृतिर्मे पटीयसी ॥ ६३ ॥
तस्यास्त्रैगुण्यमय्या हि कृत्वा तात्त्विकदर्शनम् ।
मामकीनां लभन्तेऽन्ते मुक्तिं सायुज्यनामिकाम् ॥ ६४ ॥
त्रिभावात्मकमेवास्ति तटस्थज्ञानमद्भुतम् ।
मत्स्वरूपावबोधाय सूपायः सर्वथोत्तमः ॥ ६५ ॥
मत्कारणदशायां वै सच्चिदानन्दरूपिणः ।
त्रिभावा अवतिष्ठन्तेऽद्वैतरूपे न संशयः ॥ ६६ ॥
नन्वध्यात्माधिदैवाधिभूतभावैस्त्रिभिर्ध्रुवम् ।
प्रकृतेर्मे प्रजातस्य कार्य्यब्रह्मण एव हि ॥ ६७ ॥
अङ्गोपाङ्गानि सर्वाणि व्याप्नुवन्नु पृथक् पृथक् ।
विश्वं प्रकाशये सर्वमहं वैचित्र्यसङ्कुलम् ॥ ६८ ॥
स्थानं तन्नास्ति विश्वस्मिन् व्याप्तं यन्न त्रिभावतः ।

निश्चय ही शीघ्र तत्त्वज्ञान प्रदान करता हूँ इसमें सन्देह नहीं ५९-६२ ॥ तब मेरे ज्ञानी भक्त त्रिभावकी सहायतासे ही मेरी अघटनघटनापटीयसी त्रिगुणमयी प्रकृतिका यथार्थरूपमें दर्शन करके अन्तमें मेरी सायुज्य मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥ ६३-६४ ॥ मेरे स्वरूपज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे उत्तम त्रिभावात्मक अद्भुत तटस्थ ज्ञान ही श्रेष्ठ उपाय है ॥ ६५ ॥ मेरी कारणदशामें सत् चित् और आनन्दरूप तीनों भाव निस्सन्देह अद्वैतरूपमें ही रहते हैं ॥ ६६ ॥ मेरी ही प्रकृतिसे उत्पन्न कार्य्यब्रह्मके सब अङ्गोपाङ्गोंमें मैं ही अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपी तीनों पृथक् पृथक् भावोंसे अवश्य ही व्यापक रहकर नाना वैचित्र्य पूर्ण सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता हूँ ॥ ६७-६८ ॥ इस जगत्में ऐसा स्थान

यद्ब्रह्मेशाविराड्रूपैः पश्यन्तो ज्ञानिनो हि माम् ॥ ६९ ॥
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति भक्ता मे भक्तिसागरे ।
तत्रापि कारणं वित्त नित्यभावत्रयं खलु ॥ ७० ॥
यत्तद्ब्रह्म मनोवाचामगोचरमितीरितम् ।
तत् सर्वकारणं वित्त सर्वाध्यात्मिकमित्यपि ॥ ७१ ॥
अनाद्यन्तमजं दिव्यमजरं ध्रुवमव्ययम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे संप्रवर्तते ॥ ७२ ॥
स्वेच्छया मायया यत्तज्जगज्जन्मादिकारणम् ।
ईश्वराख्यं तु तत्तत्वमधिदैवमिति स्मृतम् ॥ ७३ ॥
सर्वज्ञः सद्गुरुर्नित्यो ह्यन्तर्यामी कृपानिधिः ।
सर्वसद्गुणसारात्मा दोषशून्यः परः पुमान् ॥ ७४ ॥
यत्कार्यब्रह्म विश्वस्य निधानं प्राकृतात्मकम् ।
विराड़ाख्यं स्थूलतरमधिभूतं तदुच्यते ॥ ७५ ॥

नहीं है जो त्रिभावसे व्याप्त न हो, मेरे ज्ञानी भक्त जो ब्रह्म ईश और विराट् रूपमें मेरा दर्शन करके ही भक्तिसागरमें उन्मज्जन और निमज्जन करते हैं वहां भी नित्य भावत्रयको ही कारण जानो ॥६९-७०॥ जो मन और वाणीके अगोचर कहे गये हैं वे ब्रह्म हैं उनको सबका कारण और सबका अध्यात्म जानो ॥ ७१ ॥ अनादि, अनन्त, अजन्मा, दिव्य, अजर, अमर, नाशरहित, अनूह्य और अज्ञेय ब्रह्म प्रथम हैं ॥ ७२ ॥ अपनी इच्छारूपिणी मायासे जो जगत्की सृष्टि स्थिति और लयके कारण हैं वे ईश्वर हैं । वे ईश्वर तत्त्व अधिदैव कहाते हैं ॥ ७३ ॥ वे सर्वज्ञ, सद्गुरु, नित्य, अन्तर्यामी, कृपासागर, सब सद्गुणोंके साररूप, दोषशून्य पुरुषोत्तम है ॥ ७४ ॥ और जो विश्वके निधान, प्राकृतात्मक, स्थूलतर और विराट्रूप कार्य्यब्रह्म हैं वे अधिभूत कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥

पुनर्वः सम्प्रवक्ष्येऽहं श्रूयतां तत्त्वमुत्तमम् ।
नन्वध्यात्माधिदैवाधिभूतभावत्रयानुगम् ॥ ७६ ॥
यथाध्यात्माधिदैवाधिभूतभावत्रयं द्विजाः ! ।
विद्यते कारणे नूनं कार्य्येष्वपि तथैव तत् ॥ ७७ ॥
विस्तरात्सम्प्रवक्ष्येऽहं तत्स्वरूपं निशम्यताम् ।
अहमेव स्वकीयां तां महामायामुपाश्रितः ॥ ७८ ॥
बिभ्राणोऽध्यात्मभावेन ऋषिरूपं सदोत्तमम् ।
तथाधिदैवभावेन देवतारूपमादधत् ॥ ७९ ॥
तथाधिभूतभावेन पितृरूपमधिश्रयन् ।
नानाब्रह्माण्डसंघातं संरक्षामि महर्षयः ! ॥ ८० ॥
आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८१ ॥
द्वितीयं मारुतं भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुतम् ।
स्पष्टव्यमाधिभूतञ्च विद्युत्तत्राधिदैवतम् ॥ ८२ ॥

अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूप भावत्रय-सम्बन्धी उत्तमतत्त्व फिर मैं आपलोगोंसे ही कहता हूँ सुनो ॥ ७६ ॥ हे ब्राह्मणो ! अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव जिसप्रकार कारण में हैं उसीप्रकार वे कार्य्यमें भी अवश्य हैं ॥ ७७ ॥ उनका विस्तारसे स्वरूप मैं कहता हूँ सुनो। हे महर्षियो! मैं ही अपनी उन महामायाका आश्रय करके सर्वदा अध्यात्मभावसे ऋषि, अधिदैव भावसे देवता और अधिभूत भावसे पितृरूप उत्तमतासे धारण करके अनेक ब्रह्माण्डसमूहका संरक्षण करता हूँ ॥ ७८-८० ॥ पञ्च महाभूतोंमें प्रथम भूत आकाश है, वहां श्रोत्र अध्यात्म, शब्द अधिभूत और दिशाएँ अधिदैव कहीगई हैं ॥ ८१ ॥ द्वितीय भूत वायु है, वहां त्वक् अध्यात्म, स्पर्श अधिभूत और विद्युत् अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८२ ॥

तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं ततो रूपं सूर्य्यस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८३ ॥

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८४ ॥

पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८५ ॥

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।
अधिभूतं तु गन्तव्यं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८६ ॥

अवाग्गतिरपानश्च पायुरध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८७ ॥

प्रजनः सर्वभूतानामुपस्थोऽध्यात्ममुच्यते ।
अधिभूतं तथा शुक्रं दैवतञ्च प्रजापतिः ॥ ८८ ॥

हस्तावध्यात्ममित्याहुरध्यात्मवेदिनो जनाः ।
अधिभूतं च कर्म्माणि शक्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ८९ ॥

तृतीय भूत ज्योति अर्थात् अग्नि है, वहां चक्षु अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य्य अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८३ ॥ चतुर्थ भूत जल है वहां जिह्वा अध्यात्म, रस अधिभूत और सोम अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८४ ॥ पञ्चम भूत पृथिवी है, वहां घ्राण अध्यात्म, गन्ध अधिभूत और वायु अधिदैव कहे गये हैं ॥ ८५ ॥ तत्त्वदर्शी ब्राह्मण कहते हैं कि पाद (पैर) अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है और वहां विष्णु अधिदैव हैं ॥ ८६ ॥ निम्न गतिशील अपान है, वहां पायु अध्यात्म, विसर्ग अधिभूत और मित्र अधिदैव है ॥८७॥ सब जीवोंका उत्पादक उपस्थ अध्यात्म है, शुक्र अधिभूत और प्रजापति अधिदैव हैं ॥ ८८ ॥ अध्यात्म शास्त्रके पण्डितगण दोनों हाथोंको अध्यात्म कहते हैं, कर्म्म

वैश्वदेवी ततः पूर्वा वागध्यात्ममिहोच्यते।
वक्तव्यमधिभूतञ्च वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥ ९० ॥
अहङ्कारस्तथाऽध्यात्मं सर्वसंसारकारकम्।
अभिमानोऽधिभूतञ्च रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ॥ ९१ ॥
बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथार्थदभिदर्शिनः।
बोद्धव्यमधिभूतं तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥ ९२ ॥
अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतात्मवारकम्।
अधिभूतञ्च संकल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥ ९३ ॥
वेदः शब्दमयं ज्ञेयं मत्स्वरूपं न संशयः।
मन्त्रास्तत्राधिभूतं स्यादीश्वरश्चाधिदैवतम् ॥ ९४ ॥
ज्ञानमध्यात्ममित्याहुर्वेदनिष्णातबुद्धयः।
सरस्वत्याश्च गायत्र्याः सावित्र्याश्च तथैव हि ॥ ९५ ॥
मच्छक्तिरेव वेदेषु त्रीणि रूपाणि बिभ्रती।
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्यज्ञशक्तिस्तथा द्विजाः! ॥९६॥

अधिभूत और शक्र वहां अधिदैव है ॥ ८९ ॥ विश्वेदेवासे उत्पन्न प्रथम वाणी अध्यात्म है वक्तव्य अधिभूत और वहां वह्नि अधिदैव है। ९० ॥ समस्त संसारका कर्त्ता अहङ्कार अध्यात्म है, अभिमान अधिभूत और रुद्र वहां अधिदैव है ॥९१॥ यथार्थ देखनेवाले विद्वान बुद्धिको अध्यात्म, ज्ञेयको अधिभूत और क्षेत्रज्ञको अधिदैव कहते हैं ॥ ९२ ॥ पञ्चभूतोंसे आत्माको आवृत करनेवाला मन अध्यात्म है, सङ्कल्प अधिभूत और चन्द्रमा अधिदैव है ॥ ९३ ॥ वेदको निःसन्देह मेरा शब्दमय स्वरूप जानना चाहिये। वेदविद्वर कहते हैं कि वहां श्रुतियां अधिभूत, ईश्वर अधिदैव और ज्ञान अध्यात्म है। हे विप्रो! मेरी शक्तिही सरस्वती गायत्री और सावित्री ये तीन रूप धारण करके वेदोंमें ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति और यज्ञशक्ति इन

एतच्छक्तित्रयं नूनं समुत्पादयतेतराम् ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ९७ ॥
निगमागमयोरैक्याच्छास्त्रेऽपि वेदसम्मते ।
सादृश्यं तु त्रिभावानामेवमेवास्त्यसंशयम् ॥ ९८ ॥
अन्तःकरणमेवास्ति कारणं बन्धमोक्षयोः ।
अहङ्कारो मनो बुद्धिश्चित्तश्चैतच्चतुष्टयम् ॥ ९९ ॥
तत्राधिभूतमेवास्ति ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ।
ममानन्दविलासश्च तत्राध्यात्मं समुच्यते ॥ १०० ॥
जगद्धारकधर्म्मस्याधिभूतं कर्म्म प्रोच्यते ।
उपासनाधिदैवं स्यादध्यात्मं ज्ञानमुच्यते ॥ १०१ ॥
धर्म्माङ्गेष्वपि सर्व्वेषु प्रत्येकं विद्यते द्विजाः ! ।
सम्बन्धो हि त्रिभावानां संशयो नात्र कश्चन ॥१०२॥
वेद एवास्ति भो विप्राः ! मदाज्ञायाः प्रकाशकः ।
वेदसम्मतशास्त्राणि तस्य व्याख्यानिभानि च ॥ १०३ ॥

तीन शक्तियोंको अवश्यही उत्पन्न करती है हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ ९४-९७ ॥ वेद और वेदसम्मत शास्त्र एकही हैं इस कारण उन वेदसम्मत शास्त्रोंमें भी त्रिभावों का निःसन्देह ऐसाही सादृश्य है॥९८॥ अन्तःकरणही बन्ध और मोक्षका कारण है, वहां मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार ये चारोंही अधिभूत, ब्रह्मा अधिदैव और मेरा आनन्दविलास अध्यात्म कहा जाता है ॥ ९९-१०० ॥ जगद्धारक धर्म्मका अधिभूत कर्म्म, अधिदैव उपासना और अध्यात्म ज्ञानकाण्ड है ॥१०१॥ हे ब्राह्मणो ! सब धर्माङ्गोंमें से प्रत्येक धर्म्माङ्गके साथ भी भावत्रयका सम्बन्ध है इसमें कुछ संशय नहीं ॥ १०२ ॥ हे ब्राह्मणो ! वेदही मेरी आज्ञाका प्रकाशक है और वेदसम्मत शास्त्रसमूह

अहमेवास्म्यतो वेदे शास्त्रेषु तत्परेषु च ।
लौकिकी परकीया च समाधिनामिका तथा ॥ १०४ ॥
एतत्त्रयेण धृत्वाऽहं त्रिभावं भामि सन्ततम् ।
अधिभूतञ्च विद्यानां सर्वासां शास्त्रमुच्यते ॥ १०५ ॥

अधिदैवमृषिः प्रोक्तमध्यात्मं वेद उच्यते ।
अधिभूतं ध्रुवं सृष्टेः पिण्डसृष्टिर्महर्षयः ! ॥ १०६ ॥
ब्रह्माण्डसृष्टिरेवास्ति नूनं तत्राधिदैवतम् ।
सच्चितोर्नित्यमानन्दविलासोऽध्यात्ममुच्यते ॥ १०७ ॥

अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-कारणं यच्च प्रोच्यते ।
पिण्डनाशोऽधिभूतं स्यात्प्रलयस्य महर्षयः ! ॥ १०८ ॥
प्राहुरज्ञाश्च यं मृत्युं जीवानां रोमहर्षणम् ।
ब्रह्माण्डप्रलयश्चास्ति विप्राः ! तत्राधिदैवतम् ॥ १०९ ॥

अध्यात्मं तत्र जीवानां मत्सायुज्यसमागमः ।
जीवस्यावरणं नूनं बन्धकारणमुच्यते ॥ ११० ॥

उसकी व्याख्यारूप है ॥ १०३ ॥ इस कारण वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें मैं ही समाधिभाषा लौकिकभाषा और परकीयभाषा रूपसे त्रिविधभावोंको धारण करके निरन्तर प्रकाशित हूँ। सब विद्याओं का अधिभूत शास्त्र, अधिदैव ऋषि और अध्यात्म वेद कहागया है। हे महर्षिगण ! सृष्टिका अधिभूत पिण्ड सृष्टिही है; अधिदैव ब्रह्माण्ड सृष्टिही है और अध्यात्म मेरे चित् और सत्भावमें आनन्दका नित्य विलास कहा गया है जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंका कारण है। हे महर्षिगण ! प्रलयका-पिण्ड प्रलय अधिभूत है जिसको अज्ञलोग जीवोंका रोमाञ्चकारी मृत्यु कहते हैं, अधिदैव ब्रह्माण्ड प्रलय है और अध्यात्म प्रलय जीवोंके मत्सायुज्य प्राप्त होने को कहते हैं। पाश अर्थात् आवरणही जीवके बन्धनका कारण कहा जाता है, हे

अधिभूतं हि यस्यास्ति कोषाणां पञ्चकं बुधाः ! ।
अधिदैवमविद्या मे सत्सत्ताऽध्यात्ममुच्यते ॥१११॥
सामञ्जस्यसुरक्षार्थं सृष्टेरुत्पद्यते तु यः ।
देवासुराख्यसंग्रामः पूर्णः सोऽपि त्रिभावतः ॥ ११२ ॥
विज्ञा महर्षयो नात्र काचित् कार्य्या विचारणा ।
धर्म्माधर्म्ममयीनां यद्वृत्तीनां द्वन्द्वसङ्गरम् ॥ ११३ ॥
अन्तःकरणमासाद्य जायते नित्यमद्भुतम् ।
देवासुराख्ययुद्धस्य तदेवाध्यात्ममुच्यते ॥ ११४ ॥
देवासुरं देवलोके युद्धं नैमित्तिकं तु यत् ।
भवेत्तदेव भो विप्रा आस्ते खल्वधिदैवतम् ॥ ११५ ॥
दैवीनामासुरीणाञ्च सम्पत्तीनां प्रभावतः ।
जायते मृत्युलोके यद्महायुद्धं परस्परम् ॥ ११६ ॥
अधिभूतं तदेवास्ति तस्य युद्धस्य निश्चितम् ।
ममैव प्रकृतिर्नूनमाश्रयेण ममैव तु ॥ ११७ ॥
आविर्भावयते सृष्टि-प्रपञ्चं सन्ततं द्विजाः ! ।

विज्ञो ! जिसका पञ्चकोष अधिभूत अविद्या अधिदैव और मेरी सत्सत्ता अध्यात्म है ॥ १०४- ११ ॥ हे विज्ञ ब्राह्मणों ! सृष्टि के सामञ्जस्यकी रक्षाके लिये जो देवासुर संग्राम हुआ करता है वह भी त्रिभावसे पूर्ण है यह निःसन्देह है । धर्म्मा-धर्म्म वृत्तियों का जो अन्तःकरणमें नित्य अद्भुत द्वन्द्व युद्ध होता है वही उसका अध्यातम है ॥ ११२-११४ ॥ हे ब्राह्मणो ! देवलोकके नैमित्तिक देवासुर संग्राम ही अधिदैव है और मृत्युलोकमें दैवी और आसुरी सम्पत्तिके प्रभावसे जो परस्पर महा संग्राम होता है वही उसका अधिभूत है यह निश्चय है। हे विप्रो ! मेरी ही प्रकृति मेरे ही आश्रयसे सृष्टिप्रपञ्च निरन्तर प्रकट करती है इस

कारणं बन्धनस्यातः प्रकृतेर्मे गुणत्रयम् ॥ ११८ ॥
ये त्रिभावाश्रयान्मे तु पश्यन्ति प्रकृतिं मम ।
त्रिभिर्गुणैर्न बध्यन्ते प्रकृतेस्ते कदाचन ॥ ११९ ॥
मामकीनं स्वकीयञ्च गृहीत्वाऽऽदर्शमुत्तमम् ।
ममैषा प्रकृतिर्विप्राः ! संसारेऽपारसीमानि ॥ १२० ॥
नारीधारां नृधाराञ्च प्रोत्पाद्य विश्वमश्नुते ।
अतो धाराद्वयेऽस्मिंश्च बन्धमोक्षदशाद्वयम् ॥ १२१ ॥
कर्त्तुं सार्थकमेवास्ति द्विधा भावत्रयं खलु ।
सृष्टेर्दशायां दम्पत्योः क्षेत्रबीजे महर्षयः ! ॥ १२२ ॥
आधिभूतं तथा चास्ते पितरस्त्वधिदैवतम् ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः ॥१२३॥
अध्यात्मं प्रोच्यते तत्र नात्र कश्चन संशयः ।
मुक्तेर्दशायां दम्पत्योर्मल्लिङ्गं प्रकृतिश्च मे ॥ १२४ ॥
अधिभूतं तथास्ते सच्चिद्भावावधिदैवतम् ।

कारण मेरी प्रकृतिके तीन गुण बन्धनके हेतु होते हैं ॥ ११५-११८ ॥ परन्तु जो मेरे तीनों भावोंका आश्रय ग्रहण करके मेरी प्रकृतिको देखते हैं वे प्रकृतिके तीनों गुणोंसे कभी बन्धन प्राप्त नहीं होते ॥ ११९ ॥ हे विप्रो ! मेरे और अपने उदाहरणको लेकर मेरी यह प्रकृति अपार संसारमें स्त्रीधारा और पुरुषधाराको उत्पन्न करके जगत्को परिव्याप्त करती है इस कारण इन दोनों धाराओंमें बन्धन दशा और मुक्तदशा इन दोनोंकी चरितार्थके विचारसे निश्चय ही त्रिभावके दो भेद हैं । हे महर्षिगण ! सृष्टिदशामें स्त्री और पुरुषमें क्षेत्र और बीज अधिभूत, पितृगण अधिदैव और वहां भूतभावोद्भवकर विसर्गरूपी कर्म्म अध्यात्म कहा जाता है इसमें कुछ सन्देह नहीं और मुक्तिदशामें स्त्री और पुरुषमें मेरी प्रकृति औ

परमानन्द एवास्ति तत्राध्यात्मं न संशयः ॥ १२५ ॥
ब्राह्मणाः ! इत्थमेवाहं त्रिभावैर्देशकालयोः ।
पात्रेऽपि दर्शनं दत्त्वा स्वभक्तान् ज्ञानिनो ध्रुवम् ॥१२६॥
प्रकृतेर्बन्धनान्नूनं मोचयामि न संशयः ।
एतद्गूढरहस्यं वः कथितं विप्रपुङ्गवाः ! ॥ १२७ ॥
शुद्धभावमयो यश्च पूर्णशक्तिप्रकाशकः ॥
ओंतत्सदिति मन्त्रो हि मद्भावत्रयवाचकः ॥ १२८ ॥
भावनाभिस्तदर्थानां तज्जपैश्च निरन्तरम् ॥
मद्भक्तैर्ज्ञाननिष्णातैर्मन्त्रतत्त्वपरायणैः ॥ १२९ ॥
अविभक्तज्ञानपूर्णा तैरन्तर्दृष्टिराप्यते ॥
ममैव सच्चिदानन्द-भावत्रयसमाश्रयात् ॥ १३० ॥
नन्वध्यात्माधिदैवाधिभूतरूपं महर्षयः ! ॥
भावत्रयं हि सर्वस्मिन् कार्य्यब्रह्मणि भासते ॥ १३१ ॥
दृश्यं नातो भवेत् किञ्चिच्छून्यं भावत्रयेण वै ॥

मेरा लिङ्गरूप अधिभूत, मेरा सत् और चिद्भाव अधिदैव और वहां निःसन्देह परमानन्द ही अध्यात्म है ॥१२०-१२५॥ हे ब्राह्मणो ! मैं इसी प्रकारसे सब देश काल और पात्रोंमें त्रिभावोंसे दर्शन देकर प्रकृतिके बन्धनसे अपने ज्ञानी भक्तोंको निश्चय ही बचाया करता हूँ इसमें सन्देह नहीं ! हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! मैंने आपलोगोंसे यह गूढ रहस्य कहा है ॥ १२६-१२७ ॥ शुद्ध भावमय पूर्ण शक्ति प्रकाशक जो मेरे तीन भावोंका वाचक ओंतत्सत् मन्त्र है उसका निरन्तर जप और उसके अर्थों की भावना द्वारा ज्ञाननिष्णात और मन्त्रतत्त्व परायण मेरे भक्तोंको अविभक्तज्ञानपूर्ण अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। हे महर्षियो ! मेरे ही सत् चित् और आनन्द इन तीनों भावोंको आश्रय करके अध्यात्म अधिदैव और अधिभूतरूपी त्रिभाव सम्पूर्ण कार्य्यब्रह्ममें निश्चय ही प्रकट हैं ॥ १२८-१३१ ॥ इस कारण

प्राप्य भक्तेः पराकाष्ठां ज्ञानयोगान्तिमस्थलीम् ॥ १३२ ॥
यदा मे ज्ञानिनो भक्ता मां द्रष्टुं शक्नुवन्ति ह ।
सर्वेषु देशकालेषु तदा भावत्रयं मम ॥ १३३ ॥
भवन्त्यनुभवन्तस्ते मच्चित्ता नात्र संशयः ।
अघट्यघटनायां या प्रकृतिर्मे पटीयसी ॥ १३४ ॥
सा त्रैगुण्यमयी देवी तमःसत्त्वरजोऽभिधैः ।
त्रिभिर्गुणैस्तदा नालं बद्धुं भक्तान् मम प्रियान् ॥ १३५ ॥
अहो मत्प्रकृतिश्चैव विद्यारूपं समाश्रिता ।
नयते ज्ञानिनो भक्तान् मत्सायुज्यं न संशयः ॥ १३६ ॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे धीशर्षि-
संवादे स्वस्वरूपभावनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ।

त्रिभावसे रहित कोई दृश्य हो ही नहीं सक्ता । मेरे ज्ञानी भक्त जब ज्ञानयोगकी अन्तिम स्थलरूपा भक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त करके मेरे दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं तब वे सब देश और कालमें मेरे त्रिभावका अनुभव करते हुए निःसन्देह मद्गतचित्त हो जाते हैं। उस समय अघटनघटनापटीयसी त्रिगुणमयी मेरी प्रकृतिदेवी सत्त्व रज और तमरूपी तीनों गुणोंसे मेरे भक्तोंको बन्धन करनेमें असमर्थ हो जाती है। अहो ! मेरी प्रकृति ही विद्यारूप धारण करके ज्ञानी भक्तोंको मत्सायुज्य प्राप्त कराती है, इसमें सन्देह नहीं ॥ १३२-१३६ ॥

इसप्रकार श्रीधीशगीतोपनिषत्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि धीशर्षि
सम्वादात्मक योगशास्त्रका स्वस्वरूपभावनिरूपण
नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

सिद्धिस्वरूपनिरूपणम् ।

महर्षय ऊचुः ॥ १ ॥

ज्ञात्वा लोकोत्तरं दिव्यं तत्त्वातीतं कृपानिधे ! ।
परतत्त्वात्मकं सम्यक् स्वरूपं ते यथार्थतः ॥ २ ॥
दृश्यप्रपञ्चजातञ्च परिव्याप्नुवतोऽखिलम् ।
त्रिभावात्मकरूपस्य रहस्यं परमाद्भुतम् ॥ ३ ॥
समाकर्ण्य वयं जाताः कृतकृत्या न संशयः ।
किन्त्वन्यदेव नो जातं परं कौतूहलं हृदि ॥ ४ ॥
पश्यामः साम्प्रतं सप्त–ज्ञानभूमेरुपर्य्यहो ।
भवन्तं सुखमासीनं सुरम्ये कमलासने ॥ ५ ॥
धीश ! सर्वज्ञ ! सर्व्वात्मन्नासितस्यास्य ते विभो ! ।
सौन्दर्य्यं कमलस्यास्ते वाङ्मनोबुद्ध्यगोचरम् ॥ ६ ॥
शरीरं भवतो धीश ! रक्तवर्णमपि प्रभो ! ।

महर्षिगण बोले ॥ १ ॥

हे कृपानिधे ! आपके लोकोत्तर दिव्य और तत्त्वातीत परमतत्त्वरूपी स्वरूपको यथार्थरूपसे भलीभांति जानकर और सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चसमूहमें परिव्याप्त आपके त्रिभावात्मक स्वरूपका परम अद्भुत रहस्य सुनकर हम निस्सन्देह कृतकृत्य हुए हैं; परन्तु हमारे हृदयमें एक और ही महान् कौतूहल (आश्चर्य) उत्पन्न हुआ है॥२-३॥ अहो ! इस समय हम देख रहे हैं कि सप्त ज्ञानभूमिके ऊपर सुरम्य कमल पर आप सुखपूर्वक आसीन हैं॥५॥ हे सर्वात्मन् ! हे विभो ! हे सर्वज्ञ धीश ! जिस पर आप बैठे हुए हैं, उस कमलका सौन्दर्य्य वाक् मन और बुद्धिसे अतीत है ॥ ६ ॥ हे प्रभो धीश ! आपके शरीरका वर्ण रक्त होने पर भी वह रक्त आदि सब रंगों

अतीतं सर्ववर्णेभ्यो रक्तादिभ्योऽधुनात्यलम् ॥ ७ ॥
तर्पयत्यस्मदीयां वै रूपदर्शनलालसाम् ।
चक्रपद्मत्रिशूलैस्तु मोदकेन च भूषितैः ॥ ८ ॥
करैर्दिव्यैरेभिरस्त्रैर्भवान् नित्यं चतुर्भुजः ।
कैवल्याभ्युदयौ दातुमिवाश्वासयते च नः ॥ ९ ॥
समाधत्ते च नो बुद्धिं भवान् भूत्वा गजाननः ।
उपदिष्टा वयं पूर्वं भवता यत्ततस्तव ॥ १० ॥
ईशा ज्ञातुं स्वरूपस्य रहस्यं यत्किमप्यहो ।
सुन्दरीं लोहिताङ्गीन्तु भवद्वामाङ्कवर्त्तिनीम् ॥ ११ ॥
शङ्खशक्त्यब्जचक्रातिविभूषितचतुर्भुजाम् ।
यां विश्वमोहिनीं देवीं षोडशीं शक्तिशालिनीम् ॥ १२ ॥
पश्यामो वयमेतस्याः स्वरूपस्याधुनावधि ।
नाज्ञासिष्म रहस्यं तत् कृपां कृत्वैव साम्प्रतम् ॥ १३ ॥

से अतीत होकर हमारी रूपदर्शनतृष्णाको इस समय भलीभांति तृप्त कर रहा है । आप चतुर्भुज होकर अपने चक्र पद्म त्रिशूल और मोदकरूप दिव्यास्त्रोंसे विभूषित इन हाथोंसे अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करनेकेलिये मानों हमको नित्य आशान्वित कर रहे हैं ॥ ७-९ ॥ और आप गजवदन होकर हमारी बुद्धिको समाहित कर रहे हैं । आपने पहले जो हमें उपदेश दिया है उसके द्वारा अहो ! हम आपके स्वरूपके रहस्य को तो यत्किञ्चित् समझने में समर्थ हुए हैं परन्तु आपके वाम-अङ्क-वर्त्तिनी शङ्ख चक्र शक्ति और पद्म से अति विभूषित चतुर्भुजा लोहितवर्णाङ्गी और शक्ति शालिनी षोडशी जगत् मोहिनी जिस देवी को हम लोग देखते हैं उनके स्वरूप का रहस्य अभी तक हमारे समझ में नहीं अया, इस लिये इस समय कृपा करके ही वे कौन हैं ? उनका स्वरूप क्या है ?

"कास्तेऽसौ ? तत्स्वरूपं किं ? तद्रहस्यञ्च विस्तृतम् ?" ।
व्यासतो वर्णयित्वैतद् कृतकृत्यान् कुरुष्व नः ॥ १४ ॥

गणपतिरुवाच ॥ १५ ॥

शक्तिरेषा ममैवास्ते सर्वकार्य्यसहायिका ।
सिद्धिं नाम्ना च यामाहुर्ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १६ ॥
ममैव प्रकृतिर्विप्राः ! सदा त्रैगुण्यशोभिता ।
अत्यन्तं सा प्रसीदन्ती सिद्धिरूपञ्च बिभ्रती ॥ १७ ॥
सेवायां मे रता नित्यं मामुपाश्रित्य राजते ।
पूर्णाङ्गललिता रम्या षाड़शी सर्वसुन्दरी ॥ १८ ॥
चक्राब्जशङ्खशक्तीनां धारिणी शक्तिरूपिणी ।
सिद्धिर्विच्योतते नैव सेवातो मे कदाचन ॥ १९ ॥
अपि चेन्निरपेक्षोऽहं तत्सेवाऽऽदानकर्म्मणि ।
शुश्रूषते तथाप्येषा धृत्वा रूपं चतुर्विधम् ॥ २० ॥

और उनका विस्तारित रहस्य क्या है ? सो विस्तार पूर्वक वर्णन करके हमको कृतकृत्य कीजिये ॥ १०-१४ ॥

गणपति बोले ॥ १५ ॥

मेरे सब कार्य्यों में सहायिका ये देवी मेरी ही शक्ति हैं, वेदज्ञ ब्राह्मण गण जिनको सिद्धि नाम से अभिहित करते हैं ॥ १६ ॥ हे विप्रवृन्द ! मेरी त्रिगुणशोभित प्रकृति ही सिद्धिरूप धारण करके सदा मेरी सेवामें अति प्रसन्न होकर रत रहती हुई निरन्तर मेरा आश्रय करके शोभायमान है । पूर्ण अवयवसुशोभित षोड़शी सर्व सौन्दर्य्यसमन्विता मनोहारिणी शङ्ख चक्र शक्ति पद्मधारिणी शक्तिरूपिणी सिद्धि किसी समयभी मेरी सेवासे च्युत नहीं होती है ॥ १७-१९ ॥ यद्यपि मैं इसकी सेवा ग्रहण करनेमें निरपेक्ष रहता हूँ तौभी यह चतुर्विध रूप धारण करके मेरी सेवाकी इच्छा करती

नन्वध्यात्माधिदैवाधिभूतानि सहजं तथा ।
सिद्धेरस्या हि रूपाणि चत्वारि ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥ २१ ॥
ऐश्वर्य्यस्य चिता यद्वत् बलस्य च सता यथा ।
सम्बन्धः कर्म्मणः शक्त्या रूपस्य तेजसा सह ॥ २२ ॥
तथैवास्ते च सम्बन्धः सिद्धेः सार्द्धं मया ध्रुवम् ।
सम्बन्धोऽयमपूर्वोऽस्ति नात्र कार्य्या विचारणा ॥ २३ ॥
विष्णोः प्रिया यथा लक्ष्मीः प्रिया श्यामा शिवस्य च ।
ब्रह्ममय्या महाशक्तेः प्रिय आस्ते यथा पुनः ॥ २४ ॥
चिद्विलासात्मको भावः स्वकार्य्यब्रह्मणः खलु ।
अरुणोऽस्ति यथा विज्ञाः ! सूर्य्यदेवस्य च प्रियः ॥ २५ ॥
महर्षयस्तथैवास्ते सिद्धिरेषा हि मे प्रिया ।
परन्तु निर्विकारं मां निर्लिप्तं ज्ञानरूपिणम् ॥ २६ ॥
स्वप्रेमावरणे सिद्धिर्नासज्जायितुमस्त्यलम् ।
अलौकिकोऽस्ति सम्बन्धः सिद्ध्यैवं मे महर्षयः ! ॥ २७ ॥

है ॥ २० ॥ इसी कारण हे ब्राह्मण श्रेष्ठो ! इस सिद्धिके चार भेद हैं यथा-अधिभूतसिद्धि, अधिदैवसिद्धि, अध्यात्मसिद्धि और सहजसिद्धि ॥ २१ ॥ जिस प्रकार चित्‌के साथ ऐश्वर्य्यका सम्बन्ध है, सत्‌के साथ बलका सम्बन्ध है, शक्तिके साथ कर्म्मका सम्बन्ध है और तेजके साथ रूपका सम्बन्ध है उसी प्रकार मेरे साथ सिद्धिका नित्य सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध अलौकिक है, इसमें विचार न करना ॥ २२-२३ ॥ हे विज्ञो ! जिस प्रकार विष्णुको लक्ष्मी प्रिय है, शम्भुको श्यामा प्रिय है और पुनः जिस प्रकार ब्रह्मरूपिणी महाशक्तिको स्वकार्यब्रह्मका चिद्‌विलासरूप भाव प्रिय है, एवं जिस प्रकार सूर्य्यदेवको अरुण प्रिय है उसी प्रकारसे हे महर्षिगणो ! मुझको यह सिद्धि ही प्रिय है; परन्तु निर्लिप्त निर्विकार और ज्ञानस्वरूप मुझको सिद्धि अपने प्रेमके आवरणसे फंसा नहीं सकती हे महर्षिगण ! इस प्रकारका सिद्धिके साथ मेरा अलौकिक सम्बन्ध

मन्त्रसिद्धिस्तपःसिद्धिर्योगसिद्धिस्तथैव च ।
एवं नानाविधा लोके विख्याता याश्च सिद्धयः ॥ २८ ॥
उत याः सिद्धयो विप्रा ऐश्यः सन्त्यणिमादयः ।
जैव्यो वा सिद्धयः सन्ति या मेधाप्रतिभादयः ॥ २९ ॥
ओषधीसिद्धयो याश्च या रसायनमूलिकाः ।
पदार्थसिद्धयो याश्च विश्वस्मिन्मन्त्रदर्शिनः ! ॥ ३० ॥
बलसिद्धिर्द्रव्यसिद्धिः सिद्धिश्च पुरुषार्थगा ।
सम्मोहनादयः ख्याताः सन्ति वा याश्च सिद्धयः ॥ ३१ ॥
ज्ञानस्य सिद्धयो नाना वेदशास्त्रप्रकाशिकाः ।
सर्व्वास्तास्सन्ति मत्सिद्धेरङ्गभूता न संशयः ॥ ३२ ॥
जन्मौषधिपदोपास्तितपोमन्त्रसमाधिभिः ।
संयमेनापि लभ्यन्ते सिद्धयोऽलौकिका द्विजाः ! ॥ ३३ ॥
अष्टोपायाः प्रधाना हि सन्तीमे सिद्धिलब्धये ।
सन्ति जातिस्मरत्वादिसिद्धयो जन्मसिद्धयः ॥ ३४ ॥

है ॥ २४-२७ ॥ जगत्में जो मन्त्रसिद्धि तपसिद्धि और योगसिद्धि, इस प्रकार नानाविध सिद्धियां प्रचलित हैं और हे विप्रगण ! जगत्में जो अणिमा लघिमा आदि ऐशी सिद्धियां हैं अथवा जो मेधा प्रतिभा आदि जैवसिद्धियां प्रचलित हैं या जगत्में जो औषधि-सिद्धि रसायनसिद्धि और पदार्थसिद्धि नामसे प्रचलित हैं और हे मन्त्रदर्शिगण ! जगत्में जो धनसिद्धि, बलसिद्धि, पुरुषार्थसिद्धि, संमोहित करनेकी सिद्धि आदि प्रचलित हैं और जगत्में जो वेद तथा नानाशास्त्रके प्रकाशकी जो नानाज्ञानसम्बन्धीय सिद्धियां हैं वे सब मेरी सिद्धिकी ही अङ्गभूत हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ २८-३२ ॥ हे विप्रो ! जन्म, पद, औषधि, मन्त्र, उपासना, तप, संयम और समाधिके द्वारा अलौकिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥ ३३ ॥ सिद्धिलाभके लिये ये ही आठ उपाय प्रधान हैं। जातिस्मरत्व आदि सिद्धियां जन्म-

या सिद्धगुटिका कायकल्पश्चैव रसायनम्।
अन्या चैवंविधा सिद्धिरोषधीसिद्धिरुच्यते ॥ ३५ ॥
नैमित्तिक्यश्च या देव-शक्तयो राजशक्तयः।
अन्याश्चैवंविधाः सर्वाः शक्तयः पदसिद्धयः ॥ ३६ ॥
उपास्तेः सिद्धयः सन्ति देवतादर्शनादयः।
यासु सिद्धिषु लब्धासु जायतेऽभ्युदयो ध्रुवम् ॥ ३७ ॥
षड्वशीकरणादीनि यानि कर्म्माणि सन्ति च।
अन्यान्यन्तर्भवन्त्येवं मन्त्रसिद्धौ न संशयः ॥ ३८ ॥
नैवास्त्येवम्विधा सिद्धिर्दैवी वा कापि लौकिकी।
या संयमसमाधिभ्यां लभ्येत तपसा न वा ॥ ३९ ॥
चतुर्विधा हि लभ्यन्ते सिद्धयो निश्चितं द्विजाः!।
उपायैरष्टभिः प्रोक्तैर्नात्र कार्य्या विचारणा ॥ ४० ॥
अनन्ताः सिद्धयो याश्च लोके मच्छक्तिसम्भवाः।
विभक्तास्सन्ति तास्सर्वाश्चतुर्धैव मया पुरा ॥ ४१ ॥

सिद्धियां हैं ॥३४॥ सिद्धगुटिका कायाकल्प रसायन और इस प्रकार की अन्यान्य सिद्धियां ओषधि सिद्धियां कहाती हैं ॥ ३५ ॥ राजशक्ति और नैमित्तिक देवशक्ति और अन्यान्य इस प्रकारकी सब शक्तियां पद-सिद्धियां कहाती हैं ॥ ३६ ॥ देवदर्शनादि उपासना सिद्धियां कहाती हैं जिनके प्राप्त होने पर अवश्य अभ्युदय होता है ॥ ३७ ॥ वशीकरणादि षट्कर्म्म तथा उसी प्रकार की और सिद्धियां मन्त्रसिद्धि के अन्तर्गत हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ ३८ ॥ तप संयम और समाधि द्वारा दैवी या लौकिकी ऐसी कोई भी सिद्धि नहीं जो प्राप्त न हो सके ॥ ३९ ॥ हे विप्रो! इन आठ उपायों के द्वारा चतुर्विध ही सिद्धियां निश्चय प्राप्त हुआ करती हैं इसमें विचार न करो ॥ ४० ॥ संसारमें मेरी शक्तिसे उत्पन्न जो अनन्त प्रकारकी सिद्धियां हैं मेरे द्वारा पहले ही से वे सब चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं और

तासाञ्च लब्धये नूनमुपाया अष्ट निर्मिताः ।
तैरेव ताश्च प्राप्यन्ते निश्चितं विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ४२ ॥

कुर्वाणा लौकिकं कार्य्यं सन्ति याः सिद्धयोऽखिलाः ।
ता ज्ञेया निखिला विप्रा आधिभौतिकसिद्धयः ॥ ४३ ॥

या दैवकार्य्यकारिण्यः सिद्धयः सम्प्रकीर्त्तिताः ।
ता ज्ञेया आधिदैविक्यः सिद्धयो निखिलाः खलु ॥ ४४ ॥

सिद्धयो ज्ञानविज्ञान-प्रकाशिन्यश्च या इह ।
आध्यात्मिक्यश्च सर्वास्ताः सिद्धयः प्रोचिरे बुधैः ॥ ४५ ॥

भवतां मन्त्रद्रष्टॄणां सिद्धयोऽन्तर्गता इह ।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिर्विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ४६ ॥

सहजाख्या तु या सिद्धिर्वर्त्तते विज्ञसत्तमाः ! ।
एताभ्यः सर्वसिद्धिभ्यः सा नितान्तमलौकिकी ॥ ४७ ॥

ममावतारवृन्देऽसौ स्वत एव प्रकाशते ।
तत्त्वज्ञानैर्महात्मानो मनोनाशेन वै ध्रुवम् ॥ ४८ ॥

उनकी प्राप्तिके लिये ही आठ उपाय मैंने विधान किये हैं, हे ब्राह्मणो! उन्हीं के द्वारा वे अवश्य प्राप्त होती हैं ॥ ४१-४२ ॥ हे विप्रो । सब लौकिक कार्य्यकारिणी सिद्धियोंको आधिभौतिक सिद्धियां, दैवकार्यकारिणी सब सिद्धियोंको आधिदैविक सिद्धियां और ज्ञानविज्ञानप्रकाशक सब सिद्धियोंको संसारमें बुधगण अध्यात्मिकसिद्धियां कहते हैं ॥ ४३-४५ ॥ मन्त्रद्रष्टा आपलोगोंकी सिद्धियां हे विप्रश्रेष्ठो ! इसी सिद्धिके अन्तर्गत हैं इसमें विस्मय न करो ॥ ४६ ॥ परन्तु हे विज्ञवरो ! सहज नाम्नी जो सिद्धि है वह इन सब सिद्धियोंसे अत्यन्त अलौकिक है ॥ ४७ ॥ मेरे अवतारोंमें इस सहज सिद्धिका स्वतःही अत्यन्त विकाश होता है और महापुरुषगण अब तत्त्वज्ञान वासनाक्षय और मनोनाशके द्वारा अपने जीवभाव को निश्चय

निर्वासनतया चैवोन्मूलयन्तः स्वजीवताम् ।
शिवरूपीभवन्तश्च समाधौ निर्विकल्पके ॥ ४९ ॥
तिष्ठन्तो यान्ति मय्येव लयमेकान्ततो यदा ।
मदिच्छया तदा तेषु सहजा कर्हिचिद्भवेत् ॥ ५० ॥

उन्नताः सहजा बह्व्यः सिद्धयो यद्यपि द्विजाः ! ।
तास्वहो सन्ति मुख्यास्तु त्रयस्त्रिंशच्च केवलम् ॥ ५१ ॥
योगिवृन्देऽवतारेषु जीवन्मुक्तमहात्मसु ।
तपस्विषु प्रकाशन्ते त्रयस्त्रिंशच्च सिद्धयः ॥ ५२ ॥

समाहितैर्भवद्भिस्ताः श्रूयन्तां वर्णयाम्यहम् ।
तासां नामानि पुण्यानि भवतामन्तिके द्विजाः ! ॥ ५३ ॥
एताः सर्वाः सिद्धयो हि वेदशास्त्रेषु वर्णिताः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा ॥ ५४ ॥

वशित्वं गरिमेशित्वे तथा कामावसायिता ।
दूरश्रवणमेवालं परकायप्रवेशनम् ॥ ५५ ॥

नाश करके ही शिवस्वरूप हो निर्विकल्प समाधिस्थ रहते हुए मुझमें ही एकदम लीन होते हैं तब उनमें मेरी इच्छासे कभी कभी सहज सिद्धिका विकाश हुआ करता है ॥ ४८-५० ॥ हे ब्राह्मणों ! यद्यपि उच्चश्रेणीकी सहज सिद्धियां अनेक हैं तौभी अहो ! उनमें से केवल तैंतीस ही मुख्य हैं ॥ ५१ ॥ अवतारोंमें, योगियोंमें और जीवन्मुक्त महापुरुषों तथा तपस्वियोंमें तैंतीस प्रकारकी सिद्धियां प्रकट होती हैं ॥ ५२ ॥ हे ब्राह्मणो ! उनके पवित्र नामोंका वर्णन आपके समीप करता हूँ उनको आपलोग सावधान होकर सुनो ॥ ५३ ॥ अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, वशित्व, गरिमा, ईशित्व, कामावसायिता, दूरश्रवण, परकायप्रवेश, मनोयायित्व, अभीप्सित सर्वज्ञत्व, वह्निस्तम्भ, जलस्तम्भ, चिरजी-

मनोयायित्वमेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम् ।
वह्निस्तम्भो जलस्तम्भः चिरजीवित्वमेव वा ॥ ५६ ॥
वायुस्तम्भः क्षुधापिपासानिद्रास्तम्भनमेव च ॥
कायव्यूहश्च वाक्सिद्धिर्मृतानयनमीप्सितम् ॥ ५७ ॥
सृष्टिसंहारकर्तृत्वं प्राणाकर्षणमेव च ।
प्राणानाञ्च प्रदानञ्च लोभादीनाञ्च स्तम्भनम् ॥ ५८ ॥
इन्द्रियाणां स्तम्भनञ्च बुद्धिस्तम्भनमेव च ।
कल्पवृक्षत्वसत्यानुसन्धाने अमरत्वकम् ॥ ५९ ॥
अघटनघटनायां या प्रकृतिर्मे पटीयसी ।
जगद्विमोहिनी सैव महामायापराभिधा ॥ ६० ॥
महतो ज्ञानिनश्चैवं योगिनोऽपि तपस्विनः ।
सिद्धिसार्थैरनेकैर्हि मोहयन्ती निरन्तरम् ॥ ६१ ॥
आवागमनचक्रेऽस्मिन् स्वविलासात्मके मुहुः ।
मोक्षमार्गञ्च रुन्धाना घूर्णयेत समन्ततः ॥ ६२ ॥
ब्राह्मणाः ! प्रकृतिर्मेऽसौ महामायापराभिधा ।

वित्व, वायुस्तम्भ, क्षुत्स्तम्भ, पिपासास्तम्भ, निद्रास्तम्भ, कायव्यूह, वाक्सिद्धि, ईप्सितमृतानयन, सृष्टिकर्तृत्व, संहारकर्तृत्व, प्राणाकर्षण, प्राणप्रदान, लोभादिस्तम्भन, इन्द्रियस्तम्भन, बुद्धिस्तम्भन, कल्पवृक्षत्व, अमरत्व और सत्यानुसन्धान, ये सब सिद्धयां वेद और शास्त्रोंमें वर्णित हैं॥ ५४–५९ ॥ जो अघटनघटनापटीयसी जगद्विमोहिनी मेरी प्रकृति है और जिसका दूसरा नाम महामाया है वही तपस्वियोंको योगियोंको और बड़े बड़े ज्ञानियोंको भी नानासिद्धियोंके द्वारा ही निरन्तर विमोहित करके मुक्तिमार्गको रोकती हुई अपने विलासस्वरूप इस अवागमनचक्रमें चारों ओर बारबार घुमाया करती है॥ ६०–६२॥ परन्तु हे ब्राह्मणो ! महामायानाम्नी वह मेरी

किन्तु मे ज्ञानिनो भक्तान् मोहितुं न कदाप्यलम् ॥ ६३ ॥
कुलाङ्गनानां साध्वीनामङ्गानामिव दर्शनम् ।
ज्ञानिनां मम भक्तानां भवेत् सिद्धिप्रकाशनम् ॥ ६४ ॥
पुरुषांश्च परान् कांश्चिद् यथा काश्चित् कुलाङ्गनाः ।
दर्शनाय निजाङ्गानां न क्षमन्ते कदाचन ॥ ६५ ॥
भवन्त्युत्कण्ठिताः किन्तु सर्वथा जनसंसदि ।
दर्शनाय निजाङ्गानां निर्लज्जाः कुलटा मुहुः ॥ ६६ ॥
सर्वसामर्थ्यवन्तोऽपि मद्भक्ता ज्ञानिनस्तथा ।
सिद्धिं स्वां नैव भो विप्राः! द्योतयन्ते कदाचन ॥ ६७ ॥
योगिनो भक्तिहीनास्तु लक्ष्यहीनास्तपस्विनः ।
साधका उग्रकर्म्माणो ज्ञानहीनास्तथा द्विजाः! ॥ ६८ ॥
स्वीयाः सिद्धीर्वणिग्वृत्त्या सम्प्रकाश्य पतन्त्यलम् ।
प्रकाश्याः सिद्धयो नैव सर्वथाऽतो महात्मभिः ॥ ६९ ॥
कदाचिद्भ्रातरः पुत्रा आत्मीयाः स्वजना उत ।

प्रकृति मेरे ज्ञानी भक्तोंको कदापि विमोहित नहीं कर सक्ती ॥ ६३ ॥ मेरे ज्ञानी भक्तोंका सिद्धियोंको प्रकाश करना सती कुलकामिनियोंके अङ्ग दिखानेके समान होता है ॥ ६४ ॥ जिस प्रकार हे विप्रो ! कोई भी कुलकामिनियां कदापि किन्हीं परपुरुषोंको अपने अङ्गोंको नहीं दिखा सकतीं परन्तु निर्लज्जा कुलटा अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियां जनसमाजमें सब प्रकारसे अपने अङ्गोंको वार वार दिखानेके लिये उत्कण्ठित रहती हैं उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तगण सर्व्वसमर्थ होनेपर भी अपनी सिद्धिको कदापि प्रकट नहीं करते; किन्तु हे ब्राह्मणो ! लक्ष्यहीन तपस्वी, भक्तिहीन योगी और ज्ञानहीन उग्रकर्म्मा साधक वणिक्वृत्तिसे अपनी सिद्धियोंको प्रकट करके अत्यन्त पतित होते हैं ; इसलिये सर्वथा महात्माओंको सिद्धियां प्रकाशित नहीं करना चाहिये ॥ ६५-६८ ॥ जिस प्रकार भ्राता पुत्र

दैवादनिच्छयेक्षेरन् यथाङ्गानि कुलस्त्रियाः ॥ ७० ॥
ज्ञानिनां मम भक्तानां सिद्धीनां वैभवं तथा ।
प्रकटत्वं हठाद्याति दैवाल्लोके कदाचन ॥ ७१ ॥
हस्ताभ्यां मे यथा सिद्धिर्द्वाभ्यां विप्रा निरन्तरम् ।
मायामोहितजीवेभ्यः शक्त्यर्थौ प्रददत्यलम् ॥ ७२ ॥
बध्नात्यस्मिन् हि संसारे कारागारे चिरन्तने ।
तथाऽन्याभ्यां स्वहस्ताभ्यां धर्म्मार्थौ वितरन्त्यहो ॥ ७३ ॥
प्रदत्ते ज्ञानिभक्तेभ्यः कैवल्याभ्युदयौ ध्रुवम् ।
साधका मोहिता अज्ञाः कर्म्मस्वासक्तमानसाः ॥ ७४ ॥
माययोत्पादिताः सिद्धीः संसारे क्षणभङ्गुराः ।
परिणामस्वभावा हि लब्ध्वा तत्सेवया मुहुः ॥ ७५ ॥
नरके स्वर्गलोके च लोकयोः पितृप्रेतयोः ।
नित्यं घूर्णायमानास्ते सन्तप्यन्ते त्रितापतः ॥ ७६ ॥
किन्तु मे ज्ञानिनो भक्ताः परमानन्दसागरम् ।

आत्मीय और स्वजन अनिच्छासे कभी कभी कुलकामिनीका अङ्ग-दर्शन दैवात् कर लेते हैं उसी प्रकार मेरे ज्ञानी भक्तोंका सिद्धिवैभव दैवात् कभी कभी जगत्में हठात् प्रकाशित हो पड़ता है ॥ ७०-७१ ॥ हे विप्रो ! मेरी सिद्धि जिस प्रकार दो हाथोंसे मायाविमोहित जीवोंको निरन्तर अर्थ और शक्तिको भलीभांति देती हुई चिरन्तन कारागार रूपी संसारमें फंसा रखती है, उसी प्रकार अपने अन्य दो हाथोंसे धर्म्म और अर्थ देती हुई ज्ञानीभक्तोंको अभ्युदय और निःश्रेयस अवश्य प्रदान करती है। मोहित, ज्ञानहीन, कर्म्मासक्तचित्त साधक क्षणभङ्गुर परिणामशील और मायासे उत्पन्न सिद्धियोंको संसारमें प्राप्त करके उनकी सेवाद्वारा वारवार नरकलोक स्वर्गलोक प्रेतलोक और पितृलोकमें नित्य घूमते हुए वे त्रितापसे तापित होते रहते हैं ॥ ७२-७६ ॥ परन्तु मेरे ज्ञानीभक्तगण परमानन्दसागर

स्वरूपं तत्त्वतो ज्ञात्वा सच्चिदानन्दरूपकम् ॥ ७७ ॥
समस्तासिद्धिसर्वस्वं मामेव प्राप्नुवन्त्यलम् ।
निरापदं पदं श्रेष्ठमधिकुर्वन्ति मे ततः ॥ ७८ ॥

मच्छक्तिरूपिणी सिद्धिः प्रभावात्यन्तशोभिनी ।
मद्भक्तेर्विमुखाञ्जीवान् मत्तोऽलञ्च निवर्त्त्य सा ॥ ७९ ॥

संसारापारपाथोधावज्ञानावर्त्तसम्भ्रमे ।
निपात्य नितरां शश्वत् क्लिश्नातीह महर्षयः! ॥ ८० ॥

भजतोऽनन्यभक्त्या मां भूयोऽसौ साधकान् वरान् ।
मत्समीपं समानीय कृतार्थान् कुरुते द्रुतम् ॥ ८१ ॥

यथा स्नेहमयी माता स्वात्मजानतियत्नतः ।
वर्द्धयन्ती प्रसादेन पुष्णन्ती पालयन्त्यपि ॥ ८२ ॥

अधिकारयते क्षिप्रं परमं मङ्गलास्पदम् ।
तथा कारुण्यपूर्णाऽसौ सिद्धिर्मातेव सर्वदा ॥ ८३ ॥

सच्चिदानन्दमय स्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर समस्त सिद्धियोंका सर्वस्व अर्थात् परमसिद्धि रूपी मुझको ही भलीभांति प्राप्त करते हैं उसके बाद मेरे परमपदके अनायास अधिकारी होजाते हैं ॥ ७७–७८ ॥ मेरी शक्तिरूपिणी सिद्धि अतिप्रभावशालिनी है; हे महर्षिगण! वह मुझमें भक्तिहीन जीवोंको मुझसे अत्यन्त विमुख करके और अज्ञानरूपी आवर्त्त (जलभंवर) से संकुल इस संसाररूपी अपार समुद्रमें निरन्तर गिराकर सर्वदा क्लेशित करती है ॥ ७९–८० ॥ और पुनः वह मुझमें अनन्य भक्ति करनेवाले श्रेष्ठ साधकोंको मेरे निकट पहुंचा कर शीघ्र कृतार्थ कर देती है ॥ ८१ ॥ जिस प्रकार स्नेहमयी माता अपने पुत्रोंको बड़े यत्न से पालती पोसती और प्रसन्नतासे बढ़ाती हुई परममङ्गलमय अधिकारको शीघ्र प्राप्त करा देती है उसी प्रकार करुणामयी यह सिद्धि सदा

आर्त्तानर्थार्थिनो भक्तान् जिज्ञासूंश्चैनिमान्मम
नूनमानन्दसन्दोहमुत्साहञ्च ददत्यलम् ॥ ८४ ॥

विधत्तेऽग्रेसरान् क्षिप्रमाभिमुख्येन मे च तान् !
मम सेवारतायाश्च स्वरूपं प्रकृतेर्द्विधा ॥ ८५ ॥

विभक्तं वर्त्तते विज्ञाः! नात्र कार्य्या विचारणा ।
एका पराभिधा ज्ञेया द्वितीयाऽपरनामिका ॥ ८६ ॥

अपरानामिका जीवान् प्रकृतिर्मेऽखिलानलम् ।
गुणत्रयात्मके जाले स्वस्मिन्नाश्लिष्य मायया ॥ ८७ ॥

द्वन्द्वस्यानुभवं तैश्च कारयन्ती निरन्तरम् ।
स्वविलासात्मकं लीलामयं जनयते जगत् ॥ ८८ ॥

परा मे प्रकृतिर्धन्या साधकानां हृदम्बुजे ।
भृङ्गावलीं पराभक्तिं सन्निवेश्य महर्षयः! ॥ ८९ ॥

वीक्षयन्ती त्रयाणाञ्च गुणानां वैभवं मुहुः ।

माताके समान आर्त्त जिज्ञासु और अर्थार्थी इन मेरे त्रिविध भक्तों-को निश्चय ही परम आनन्दसमूह और उत्साह भलीभांति देती हुई उनको शीघ्र मेरी ओर अग्रसर करती है। हे विज्ञवरो! मेरी सेवा-में रता प्रकृतिके स्वरूप दो प्रकारसे विभक्त हैं, इसमें विचारने-की कोई बात नहीं है, एक को परा और एकको अपरा जानो ॥ ८४–८६ ॥ अपरा नाम्नी मेरी प्रकृति अपने त्रिगुणात्मक जाल में सब जीवों को मायासे फंसा कर उनको द्वन्द्वका अनुभव निरन्तर कराती हुई अपने विलासरूपी लीलामय संसारको प्रकट करती है ॥ ८७–८८ ॥ और हे महर्षिगण! मेरी धन्या परा प्रकृति साधकों-के हृदयकमलमें मेरी भक्तिरूपिणी भृङ्गावलीको संनिविष्ट करके त्रिगुणवैभवको वारवार दर्शन कराती हुई उनको द्वन्द्वातीत

द्वन्द्वातीतं पदं नीत्वा मामेनान् दर्शयत्यहो ॥ ९० ॥
अतो विज्ञवरा अत्र प्रकृतेर्मे दशाद्वये ।
मम सिद्धिस्वरूपस्य विकाशोऽपि द्विधा भवेत् ॥ ९१ ॥
अपरा सिद्धिरेकास्ति द्वितीया च परामिधा ।
नैकोक्तसिद्धिरूपाणि नानारूपाणि बिभ्रती ॥ ९२ ॥
सिद्धिर्मेऽस्त्यपरानाम्नी नात्र वः संशयो भवेत् ।
ज्ञानाधिकारिणो विप्राः ! पूज्या सिद्धिः पराभिधा ॥ ९३ ॥
चिन्मयी सात्त्विकी नित्या हिताऽद्वैतविधायिनी ।
स्वरूपानन्दसन्दोहद्योतिनी सा प्रकीर्त्तिता ॥ ९४ ॥
ऐश्यो मे सिद्धयो विप्राः ! कामनामन्तरेण मे ।
प्रकटत्वं हि संसारे नैव यान्ति कदाचन ॥ ९५ ॥
मामकीना यतः शक्तिर्न स्वेच्छाचारिणी भवेत् ।
अतो ममावतारेषु ज्ञानिष्वपि कदाचन ॥ ९६ ॥
भद्भक्तेषु प्रकाशेरन्नैश्यो मे सिद्धयः स्वतः ।

पदमें पहुंचाकर अहो ! मेरा दर्शन करादेती है ॥ ८९-९० ॥ इसी कारण हे विज्ञवरो ! मेरी प्रकृतिकी इन दो दशाओंमें मेरी सिद्धि-की स्वरूपका विकाश भी द्विविध होता है। एक परा सिद्धि और दूसरी अपरा सिद्धि नामसे अभिहित होती है। सिद्धि के जो अनेक रूप पहले कहे गये हैं वह नाना रूपधारिणी सिद्धि मेरी अपरा सिद्धि है इसमें आपलोगोंको सन्देह न होना चाहिये। हे ज्ञानके अधिकारी ब्राह्मणो ! जो पूज्या परानाम्नी सिद्धि है वह चिन्मयी सात्त्विकी नित्या हिता अद्वैतकारिणी और स्वरूपानन्दसन्दोहप्रकाशिनी कही गई है ॥ ९१-९४ ॥ हे ब्राह्मणो ! मेरी ऐशी सिद्धियां मेरी इच्छाके विना संसारमें कदापि प्रकाशित नहीं हो सक्ती ॥ ९५ ॥ क्योंकि मेरी शक्ति स्वेच्छाचारिणी नहीं हो सक्ती; इसी कारण मेरे अवतारोंमें

ममावतारवृन्दानामाविर्भावो महर्षयः ॥ ९७ ॥
अथवा ज्ञानिभक्तेषु ह्येश्याः सिद्धेः प्रकाशनम् ।
समष्टेर्जीववर्गस्य कर्म्मणो निघ्नमस्त्यहो ॥ ९८ ॥
सन्त्यतः सिद्धयो विप्रा ऐश्योऽत्यन्तं सुदुर्लभाः ।
स्वरूपं मम सिद्धेश्च ज्ञात्वा सम्यङ्महर्षयः ! ॥ ९९ ॥
कदाचिदपरासिद्धेर्माश्लिष्यध्वं हि बन्धने ।
चिन्मय्या मे परासिद्धेर्महत्त्वं परमाद्भुतम् ॥ १०० ॥
ज्ञात्वोपास्य च तामेवाद्वैतानन्दप्रकाशकम् ।
द्वन्द्वातीतं लभध्वं हि शाश्वतं परमं पदम् ॥ १०१ ॥
स्थिरं लक्ष्यं विधायैवं द्विजाः ! सिद्धिस्वरूपिणि ।
आयुधे मोदके नूनं त्रिशूले मे त्रितापके ॥ १०२ ॥
दृष्टिक्षेपं न कुर्व्वीरन् भवन्तो हि कदाचन ।

और कभी कभी मेरे ज्ञानी भक्तोंमें भी मेरी ऐशी सिद्धयोंका प्रकाश स्वतः हुआ करता है । हे महर्षिगण ! मेरे अवतार समूहका अविर्भाव अथवा ज्ञानी भक्तोंमें ऐशी सिद्धिका विकाश अहो ! जीवोंके समष्टि कर्म्माधीन है ॥ ९६-९८ ॥ इसी कारण हे ब्राह्मणो ! ऐशी सिद्धियां अत्यन्त दुर्लभ हैं । हे महर्षियो ! आप मेरे स्वरूप और मेरी सिद्धिके स्वरूपको भलीप्रकार जानकर कभी भी मेरी अपरा सिद्धिके बन्धन-जालमें न फंसो और मेरी चिन्मयी परासिद्धिके परम अद्भुत महत्त्वको जानकर और उसकी ही उपासना करके द्वन्द्वातीत अद्वैतानन्दप्रकाशक सनातन परमपदको प्राप्त करो ॥ ९९-१०१ ॥ हे ब्राह्मणो ! आप इस प्रकार स्थिर लक्ष्य रखकर मेरे त्रितापरूपी त्रिशूल और सिद्धिरूपी मोदक जो आयुध हैं उनकी ओर कभी भी दृष्टि न रक्खो और चक्र और पद्मरूपी धर्म्म और मोक्ष पर निरन्तर

चक्रपद्मस्वरूपौ हि धर्म्ममोक्षौ निरन्तरम् ॥ १०३ ॥
अग्रेसरेयुः संलक्ष्य बाधां नेयुः कदाचन ।
सत्यमेतद्धि जानीत नात्र कश्चन संशयः ॥ १०४ ॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योग-
शास्त्रे धीशर्षिसंवादे सिद्धिस्वरूपनिरूपणं
नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

लक्ष्य रखकर अग्रसर हो, कभी बाधाको प्राप्त नहीं होगे, इसको सत्य जानो, इसमें कुछ संशय नहीं है ॥ १०२–१०४ ॥

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद्में ब्रह्मविद्यासम्बन्धी
योगशास्त्रका धीशर्षिसम्वादात्मक सिद्धिस्वरूपनिरू-
पण नामका द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।

ज्ञानभूमिनिरूपणम् ।

महर्षय ऊचुः ॥ १ ॥

हे सर्वशक्तिमन् ! धीश ! भगवन् ! सर्वसिद्धिद ! ।
हे विभो ! सर्वसिद्धीनां नित्याधारस्वरूपवन् ! ॥ २ ॥
परासिद्धेः कृपाप्राप्त्यै पूर्वं तद्दर्शनं ध्रुवम् ।
आवश्यकीयमेवास्ति तदुपायानतो वद ॥ ३ ॥
यैर्नः स्याद्दर्शनं नूनं परासिद्धेर्निरापदम् ।
यथा वा नः कृतार्थत्वमुपदिश्यामहे तथा ॥ ४ ॥

गणपतिरुवाच ॥ ५ ॥

विद्यास्वरूपिणीं नित्यां परासिद्धिं मदाश्रयाम् ।
तत्त्वज्ञानसुनिष्णाताः महापौरुष्यशालिनः ॥ ६ ॥
दिव्यदृष्ट्या निरीक्षन्ते ज्ञानिनो ज्ञानभूमिषु ।
तत्त्वज्ञाः शान्तचेतस्काः साधकास्तु यथायथम् ॥ ७ ॥

महर्षिगण बोले ॥ १ ॥

हे सर्व्वशक्तिमन् विभो ! हे सर्व्वसिद्धियोंके नित्य आधार स्वरूप ! हे सर्व्वसिद्धिदायिन् ! हे भगवन् धीश ! परासिद्धिकी कृपाप्राप्तिके लिये प्रथम उनके दर्शनलाभकी निश्चय ही आवश्यकता है अतः उसके उपाय कहें जिनके द्वारा परासिद्धिके दर्शन हमलोगोंको अनायास ही हों अथवा जिस प्रकारसे हमलोग कृतार्थ होवें सो उपदेश कीजिये ॥ २-४ ॥

गणपति बोले ॥ ५ ॥

नित्या और विद्यास्वरूपिणी मेरी परासिद्धिका दर्शन ज्ञानभूमियोंमें तत्त्वज्ञाननिष्ठ ज्ञानी महापुरुषोंको दिव्यदृष्टिसे हुआ करता है और इस संसारमें शान्तचित्त तत्त्वज्ञानी साधक क्रमशः

क्रमादग्रेसरन्तीह सप्तसु ज्ञानभूमिषु ।
मम विद्यास्वरूपायाः परासिद्धेस्तथातथम् ॥ ८ ॥
उत्तरोत्तरमत्यन्तं स्पष्टं रूपस्य दर्शनम् ।
प्राप्नुवन्तो निमज्जन्ति परमानन्दसागरे ॥ ९ ॥
अहं ज्ञानस्वरूपोऽस्मि नूनं विज्ञवरा द्विजाः ! ।
तटस्थश्च स्वरूपश्च द्विविधं ज्ञानमीरितम् ॥ १० ॥
ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयमेषां भानैः समन्वितः ।
यत्र त्रिपुटिसम्बन्धो विद्यते विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ११ ॥
ज्ञानं स्यात्तत्तटस्थाख्यं स्वरूपज्ञानकारणम् ।
ज्ञानेऽस्मिंश्च तटस्थाख्ये स्वरूपस्य द्विजोत्तमाः ! ॥ १२ ॥
सच्चिदानन्दभावानामनुभूतिः पृथक् पृथक् ।
स्यादतस्तत्र सम्पूर्णं दृश्यजातं प्रतीयते ॥ १३ ॥
यत्र त्रिपुटिसम्बन्धलेशमात्रं न विद्यते ।
सच्चिदानन्दभावानामनुभूतिः पृथङ्न च ॥ १४ ॥

जैसे जैसे सप्तज्ञान भूमियोंमें अग्रसर होते जाते हैं वैसे वैसे उत्तरोत्तर मेरी विद्यारूपिणी परासिद्धिके स्वरूपका अत्यन्त स्पष्ट दर्शन प्राप्त करते हुए परमानन्दसागरमें निमग्न होते जाते हैं ॥६-९॥ हे विज्ञवर ब्राह्मणो ! मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ और ज्ञान दो प्रकारका कहा गया है, एक तटस्थज्ञान और दूसरा स्वरूपज्ञान। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! जहां ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयोंके भानसे युक्त त्रिपुटिका सम्बन्ध है वही स्वरूपज्ञानका कारण भूत तटस्थ ज्ञान है हे ब्राह्मणो ! इस तटस्थज्ञान में सत् चित् और आनन्दभावोंका स्वरूप पृथक् पृथक् अनुभूत होता है इस कारण उस अवस्थामें सम्पूर्ण दृश्यसमूह प्रतीत होता है ॥ १०-१३ ॥ जहां त्रिपुटि सम्बन्धका लेशमात्र नहीं है, जहां सत्-चित् और आनन्द भावका स्वतंत्र अनुभव नहीं है और जहां ये

यत्राप्येतत्त्रयं तिष्ठद्भावेऽद्वैते निरन्तरम् ।
उदेति निश्चितं तत्र स्वरूपज्ञानमुत्तमम् ॥ १५ ॥
यतोऽस्तित्वं तटस्थस्याहंमहत्तत्वयोगतः ।
तटस्थज्ञानमस्त्यस्माद्बहुभावैः समन्वितम् ॥ १६ ॥
पूर्णं ज्ञानं स्वरूपन्तु शाश्वतञ्चाविकारि च ।
तत्त्वातीते पदेऽस्त्यस्य परमे नित्यसंस्थितिः ॥ १७ ॥
परिणामितटस्थाख्याज्ज्ञानान्नूनं शनैः शनैः ।
स्वरूपमुदयज्ज्ञानं यदास्ते विप्रपुङ्गवाः ! ॥ १८ ॥
सर्वेषु प्राणिवृन्देष्वविभक्तं निखिलेषु च ।
देशेषु सर्वकालेषु पात्रेषु विविधेषु च ॥ १९ ॥
विकाररहितं सर्वभूतेष्वेकत्वदर्शकम् ।
उन्नतं सात्त्विकं ज्ञानं तत्त्वज्ञेषु महात्मसु ॥ २० ॥
तदा प्रकाशते नूनं स्वत एव न संशयः ।
तत्प्रभावात्स्वरूपस्य ज्ञानस्यानुभवं किल ॥ २१ ॥

तीनों ही अद्वैत भावमें निरन्तर स्थित हैं वहीं उत्तम स्वरूपज्ञान-का उदय होता है ॥ १४-१५ ॥ तटस्थ ज्ञान बहुभावोंसे युक्त है क्योंकि अहंतत्त्व और महत्तत्त्व दोनोंके संयोगके उसका अस्तित्व है ॥ १६ ॥ परन्तु स्वरूपज्ञान नित्य अविकारी और पूर्ण है और तत्त्वा-तीत परमपदमें उसकी नित्यस्थिति विद्यमान रहती है ॥ १७ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! जब परिणामशील तटस्थज्ञानसे ही शनैः शनैः स्वरूपज्ञानका उदय होने लगता है उस समय तत्त्वज्ञानी महात्मा-ओंमें सर्व्वभूतोंमें अविभक्त, सब देश काल और पात्रोंमें विकार-रहित और सर्व्वभूतोंमें एक भावको दिखानेवाला ही उन्नत सात्विक ज्ञान स्वतः ही प्रकाशित होता है, इसमें सन्देह नहीं हे महर्षिगण ! उसके प्रभावसे ही मुक्तात्मा स्वरूपज्ञानका अनुभव अनायास ही

कुर्वन्त्येव निरायासं मुक्तात्मानो महर्षयः ! ।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यः सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥ २२ ॥
यथा शब्दं विनाऽऽकाशो विना स्पर्शं समीरणः ।
रूपेणैवं विना वह्निर्जलं खलु रसंविना ॥ २३ ॥
यथा गन्धं विना पृथ्वी नैव तिष्ठेत् कदाचन ।
तथा तटस्थज्ञानस्य नोदयोऽहङ्कृतिं विना ॥ २४ ॥
नैव सम्भाव्यते किन्तु स्वरूपे द्वैतमण्वपि ।
अतो ज्ञानं स्वरूपाख्यं स्वस्वरूपं ममैव तत् ॥ २५ ॥
अविद्याजनितं विप्रा विभक्तज्ञानमस्त्य हो ।
विद्यासम्भूतमेवास्त्यविभक्तज्ञानमुत्तमम् ॥ २६ ॥
अस्म्यहं ज्ञानरूपत्वाच्चेज्ज्ञानद्वयमप्यहो ।
अविभक्तं तथाप्येतज्ज्ञानं दत्ते परम्मदम् ॥ २७ ॥
मत्तो जीवान् दवयते विभक्तज्ञानमत्यहो ।
विभक्तज्ञानतो नीत्वाऽविभक्तज्ञानमन्दिरम् ॥ २८ ॥

करलेते हैं, मैं आपलोगोंसे सत्य कहता हूँ इसमें विस्मय न करो ॥१९-२२॥ जैसे शब्दके विना आकाश, स्पर्शके विना वायु, रूपके विना अग्नि, रसके विना जल और गन्धके विना पृथिवीका अस्तित्व कभी भी नहीं रह सक्ता उसी प्रकार अहंकारके विना तटस्थ ज्ञानका उदय नहीं हो सक्ता ॥ २३-२४ ॥ परन्तु स्वरूपज्ञानमें अणुमात्र भी द्वैतकी संभावना नहीं है इसकारण वह मेरा ही स्वरूप है ॥ २५ ॥ हे ब्राह्मणो ! अहो विभक्त ज्ञान अविद्यासम्भूत है और उत्तम अविभक्त ज्ञान विद्यासम्भूत ही है ॥ २६ ॥ अहो ! मैं ज्ञानरूप हूँ इस कारण यद्यपि दोनों ज्ञान मैं हूँ तथापि यह अविभक्त ज्ञान परम-पदकी प्राप्ति कराता है ॥ २७ ॥ और अहो ! विभक्त ज्ञान जीवोंको मुझसे अत्यन्त अलग स्थित रखता है । मुमुक्षुओंको विभक्तज्ञानसे

मुमुक्षून् स्वस्वरूपं मे नूनं नेतुं निरापदम् ।
श्रुतिभिर्वर्णिताः पूर्वं सप्तैव ज्ञानभूमयः ॥ २९ ॥
विश्वबन्धनकर्त्रीषु सप्तस्वज्ञानभूमिषु ।
अज्ञानान्धाः सदा जीवा आसज्जन्ते विमोहिताः ॥ ३० ॥
श्रौतानां कर्म्मकाण्डानां साहाय्यात्साधकाः खलु ।
पूर्वं शरीरसंशुद्धिं मनःशुद्धिं ततः परम् ॥ ३१ ॥
कृत्वा पश्चान्ममोपास्त्या चित्तवृत्तीः प्रशम्य च ।
अधिकारं लभन्तेऽन्ते तत्त्वज्ञानस्य दुर्लभम् ॥ ३२ ॥
ततश्च क्रमशो विप्राः ! सोपानारोहणं यथा ।
ज्ञानभूमीश्च सप्तैवमतिक्रम्य शनैः शनैः ॥ ३३ ॥
ज्ञानपूर्णान्तरात्मानो मामन्ते प्राप्नुवन्ति ते ।
ज्ञानक्रमविकाशैर्हि पूर्णाः स्वाभाविकैरतः ॥ ३४ ॥
सप्तैता ज्ञानभूम्यो मे परासिद्धेः कृपावशात् ।
स्वरूपज्ञानसँल्लब्धेर्वहन्ते हेतुतामलम् ॥ ३५ ॥

अविभक्तज्ञानमन्दिरमें पहुंचाकर मेरे स्वस्वरूपमें अनायास ही पहुंचानेके लिये वेदोंने पहले ही सात ज्ञानभूमियोंका वर्णन किया है ॥ २८–२९ ॥ विश्वको बन्धन प्राप्त करानेवाली सात अज्ञानभूमिकाओंमें अज्ञानान्ध जीव विमोहित होकर सदा फंसे रहते हैं ॥३०॥ वेदविहित कर्म्मकाण्डकी सहायतासे साधक प्रथम शरीरकी शुद्धि और तदनन्तर मनकी शुद्धि सम्पादन करके तत्पश्चात् मेरी उपासनाके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको शान्त करके अन्तमें तत्त्वज्ञानका दुर्लभ अधिकार प्राप्त करते हैं ॥ ३१–३२ ॥ एवं तदन्तर हे ब्राह्मणो ! क्रमशः सातों ज्ञानभूमियोंको सोपानारोहणके समान शनैः शनैः अतिक्रमण करके अन्तमें वे पूर्ण ज्ञानी होकर मुझको प्राप्त करलेते हैं इसकारण स्वभावसिद्ध ज्ञानके क्रमविकाशसे पूर्ण ये सातों ज्ञानभूमियां मेरी परासिद्धिकी कृपासे मेरे स्वरूपज्ञानप्राप्तिकी

सप्तानां ज्ञानभूमीनां प्रथमा ज्ञानदा भवेत् ।
सन्न्यासदा द्वितीया स्यात्तृतीया योगदा भवेत् ॥ ३६ ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी स्यात्पञ्चमी सत्पदा स्मृता ।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥ ३७ ॥
यावज्जीवैरतिक्रान्ता न सप्ताऽज्ञानभूमयः ।
तावन्न प्रथमा भूमिर्ज्ञानस्य ज्ञानदाऽऽप्यते ॥ ३८ ॥
उद्भिज्जानां चिदाकाशे प्रथमाऽज्ञानभूमिका ।
स्वेदजानां चिदाकाशे सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥ ३९ ॥
तृतीयाऽण्डजजातिश्चाज्ञानभूमिश्चिदाश्रिता ।
जरायुजपशूनाञ्च चिदाकाशे चतुर्थ्यसौ ॥ ४० ॥
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वाधिकारिष्वेव वै नृषु ।
सन्ति शेषा अधिकृतास्तिस्रस्त्वज्ञानभूमयः ॥ ४१ ॥
तिस्रस्ता एव कथ्यन्त उत्तमाधममध्यमाः ।
विशदं ताः प्रचक्षेऽहं श्रूयन्तां विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ४२ ॥

अत्यन्त कारणरूपा हैं ॥ ३३-३५ ॥ सातों ज्ञानभूमियोंमें से प्रथमा ज्ञानदा, द्वितीया सन्यासदा, तृतीया योगदा, चतुर्थी लीलोन्मुक्ति, पञ्चमी सत्पदा, षष्ठी आनन्दपदा और सप्तमी परात्परा है ॥ ३६-३७ ॥ जब तक जीवोंने सप्त अज्ञानभूमियोंका अतिक्रमण नहीं किया है तब तक प्रथम ज्ञानभूमि ज्ञानदाकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ ३८ ॥ उद्भिज्जोंके चिदाकाशमें प्रथम अज्ञानभूमि है, स्वेदजोंके चिदाकाशमें द्वितीय अज्ञानभूमि कहीगई है ॥ ३९ ॥ अण्डजोंके चिदाकाशमें तृतीय अज्ञानभूमि है और जरायुज पशुओंके चिदाकाशमें चतुर्थ अज्ञानभूमि है ॥ ४० ॥ परन्तु पांचकोषोंके पूर्णताकी अधिकारिणी मनुष्ययोनिमें ही शेष तीनों अज्ञानभूमियोंका अधिकार है ॥ ४१ ॥ वेही तीनों उत्तम मध्यम और अधम अज्ञान-भूमियां कहाती हैं हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! मैं उनको स्पष्टरूपसे कहता

एता अज्ञानभूमीर्हि तिस्रैव समूलतः ।
मूर्त्तिमन्तः स्वयं वेदा निराकर्त्तुं समुद्यताः ॥ ४३ ॥
अधमाऽज्ञानभूमौ हि यावन्मर्त्यः प्रसज्जते ।
कृतेऽपराधे दण्डः स्यात्तिर्य्यग्योनौ तदुद्भवः ॥ ४४ ॥
मध्यमाज्ञानभूमेश्च मानवैरधिकारिभिः ।
पितृलोकास्तथा विप्राः ! नारकाश्च पुनः पुनः ॥ ४५ ॥
प्राप्यन्ते मृत्युलोकश्च सुखदुःखादिपूरितः ।
ददात्यूर्द्ध्वेश्च स्वर्लोकमुत्तमाऽज्ञानभूमिका ॥ ४६ ॥
अधमाज्ञानभूमिश्च प्राप्ता मर्त्या भवन्त्यहो ।
देहात्मवादिनोऽनार्य्या नास्तिकाः शौचवर्ज्जिताः ॥ ४७ ॥
मध्यमाऽज्ञानभूमेस्तु मानवा अधिकारिणः ।
आस्तिकत्वेन भो विप्राः ! सद्विचारपरायणाः ॥ ४८ ॥
देहात्मनोर्हि पार्थक्यं विश्वसन्तोऽपि सर्वथा ।
इन्द्रियाणां सुखे मग्ना नितरामैहलौकिके ॥ ४९ ॥

हूँ सुनो ॥ ४२ ॥ इन्हीं तीनों अज्ञानभूमियोंके समूल निराकरणके लिये वेद स्वयं मूर्त्तिधारण करके प्रवृत्त हैं ॥ ४३ ॥ अधम अज्ञान-भूमिमें जब तक मनुष्य फंसा रहता है उसको अपराध करने पर तिर्य्यक् योनिकी प्राप्ति दण्डरूपसे हुआ करती है ॥ ४४ ॥ और हे ब्राह्मणो ! मध्यम अज्ञानभूमिके अधिकारी मनुष्योंको पितृलोक, नरकलोक और सुखदुःखपूर्ण मृत्युलोककी प्राप्ति वार वार होती है एवं सर्व्वोन्नत अज्ञानभूमि ऊर्ध्व स्वर्गलोक प्रदानकारी है ॥ ४५-४६ ॥ अधम अज्ञानभूमिप्राप्त मनुष्य अहो ! नास्तिक देहात्म-वादी अशुचि और अनार्य्य होते हैं ॥ ४७ ॥ परन्तु हे ब्राह्मणो ! मध्यम अज्ञानभूमिके अधिकारी मनुष्य आस्तिक होनेसे देहसे आत्माकी पृथक्ता पर सर्व्वथा विश्वास करते हुए और सद्विचार-परायण होते हुए भी वे महामूढ़ ऐहलौकिक इन्द्रियसुखमें

विस्मरन्ति महामूढाः सुखं ते पारलौकिकम् ।
उत्तमाऽज्ञानभूमेर्वै पुण्यवन्तोऽधिकारिणः ॥ ५० ॥
आत्माऽतिरिक्तं मे शक्तेर्मत्वाऽस्तित्वं द्विजर्षभाः ! ।
स्वर्गीयस्य सुखस्यैव जायन्ते तेऽधिकारिणः ॥ ५१ ॥
अधमाऽज्ञानभूमिर्वै तमोमुख्या विजृम्भते ।
तमोरजःप्रधाना च मध्यमाऽसौ प्रकीर्तिता ॥ ५२ ॥
उत्तमाऽज्ञानभूमिश्च रजःसत्त्वप्रधानिका ।
शुद्धसत्त्वविकाशस्य स्थले नूनं यथाक्रमम् ॥ ५३ ॥
पुण्यभाजां मनुष्याणां चित्ताकाशे ततो द्विजाः ! ।
सप्तानां ज्ञानभूमीनामधिकाराः क्रमेण हि ॥५४॥
समुद्यन्ति ध्रुवं देवदुर्लभानां स्वभावतः ।
ज्ञानभूम्यश्च सप्तैता साधकान्तर्हृदि क्रमात् ॥ ५५ ॥
शुद्धं सत्त्वगुणं सम्यग्वर्द्धयन्त्यो निरन्तरम् ।
निःश्रेयसपदं नित्यं गुणातीतं नयन्त्यलम् ॥ ५६ ॥
यत्किञ्चिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्व्वं मयेति धीः ।

अत्यन्त मग्न होकर पारलौकिक सुखको भूले रहते हैं। हे ब्राह्मणो ! उत्तम अज्ञानभूमिके ही पुण्यवान् अधिकारी आत्मासे अतिरिक्त मेरी शक्तिका अस्तित्व मानकर वे स्वर्गीय सुखके ही अधिकारी हुआ करते हैं॥ ४८–५१ ॥ अधम अज्ञानभूमि तमप्रधान, मध्यम अज्ञानभूमि तमरजप्रधान और उत्तम अज्ञानभूमि रजसत्त्वप्रधान कही गई है । इसके अनन्तर हे ब्राह्मणो ! शुद्ध सत्त्वके क्रमविकाशस्थलरूपी पुण्यवान् मनुष्योंके चित्ताकाशमें देवदुर्लभ सप्तज्ञानभूमियोंके अधिकार क्रमशः स्वभावसे ही उदय होते हैं और क्रमशः ये सातों ज्ञानभूमियाँ साधकके अन्तःकरण-में शुद्ध सत्त्वकी भलीभांति निरन्तर वृद्धि करती हुई नित्य और गुणातीत कैवल्यपद में निश्चय पहुंचादेती हैं ॥ ५२–५६ ॥ मुझे जो

आद्याया भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्त्तितः ॥ ५७ ॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः ।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धानुभवो हि तृतीयकः ॥ ५८ ॥
मायाविलसितं चैतदृदृश्यते सर्व्वमेव हि ।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः ॥ ५९ ॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्त्तितः ।
ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते ॥ ६० ॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम् ।
ब्रह्माऽहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः ॥ ६१ ॥
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते मुनिसत्तमाः ! ॥ ६२ ॥
श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च ।
पुरुषार्थास्त्रिधा प्रोक्ता एत एव महर्षयः ! ॥ ६३ ॥

कुछ जानने योग्य था सो सब कुछ जानलिया है ऐसी बुद्धि होना प्रथम ज्ञानभूमिका अनुभव कहागया है ॥ ५७ ॥ मुझे त्यागना था सो त्याग दिया है यह दूसरी ज्ञानभूमिका अनुभव मानागया है। मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी सो प्राप्त करली है यह तीसरी ज्ञान भूमिका अनुभव है ॥ ५८ ॥ यह मायाकी लीला मुझे सबही दिखाई देती है मैं उसमें मोहित नहीं होता यह चतुर्थ ज्ञानभूमिका अनुभव है ॥५९॥ जगत् ही ब्रह्म है यह पञ्चम ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है। ब्रह्म ही यह जगत् है निश्चय ही यह षष्ठ ज्ञानभूमिका अनुभव कहा गया है ॥ ६० ॥ और मैं अद्वितीय निर्विकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ ऐसी बुद्धि सप्तम ज्ञानभूमिका अनुभव माना गया है ॥ ६१ ॥ इस भूमिको प्राप्त करके ही साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है हे मुनिश्रेष्ठो ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ६२ ॥ हे महर्षियो ! श्रवण मनन निदिध्यासनरूप ये ही त्रिविध पुरुषार्थ कहे गये हैं॥६३॥

मुमुक्षूणां त्रिभिः सम्यङ्ममसामीप्यलब्धये ।
पुरुषार्थैरुपेतानामेतैः साधनशैलयः ॥ ६४ ॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनां सप्त सोपानसन्निभाः ।
प्रासादपृष्ठमारोढुं यथा सोपानपङ्क्तयः ॥ ६५ ॥
तथा तटस्थज्ञानस्य सप्तैता ज्ञानभूमयः ।
सप्तसोपानतुल्याः स्युः स्वरूपज्ञानलब्धये ॥ ६६ ॥
आद्यायां ज्ञानदानाम्न्यां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः ।
अन्तर्दृष्टिं लभेरंस्ते तत्त्वजिज्ञासवो द्विजाः ! ॥ ६७ ॥
तदा जिज्ञासवो नूनं परमाणुस्वरूपतः ।
स्थूलान्येव ममाङ्गानि ज्ञात्वा नित्यानि सर्वथा ॥ ६८ ॥
षोड़शधा विभक्तानि दृष्ट्वा तान्येव मे पुनः ।
वादसाहाय्यतो वापि पर्य्यालोचनलोचनैः ॥ ६९ ॥
सृष्टिं निरीक्ष्य तस्याश्च कर्त्तारं केवलं हि माम् ।
शक्नुवन्ति बुधा विप्राः ! अनुमातुं कुलालवत् ॥ ७० ॥

मुमुक्षुओंको मेरे पास अच्छी तरह पहुंचनेके लिये इन्हीं त्रिविध पुरुषार्थोंसे युक्त सातों ज्ञानभूमियोंकी साधनशैलियां सात सोपानरूप हैं। जिस प्रकार किसी राजभवनकी छतपर चढ़नेके लिये पौडियां होती हैं उसी प्रकार स्वरूपज्ञानमें पहुंचनेके लिये तटस्थज्ञानकी ये सात ज्ञानभूमियां सात पौडियोंके समान हैं ॥ ६४-६६ ॥ हे तत्त्वजिज्ञासु ब्राह्मणो ! ज्ञानदानाम्नी प्रथम ज्ञानभूमिमें वे मुमुक्षु अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने लगते हैं ॥ ६७ ॥ हे ब्राह्मणों ! उस समय जिज्ञासु पण्डितगण मेरे स्थूल अवयवोंको ही परमाणुरूपसे सर्व्वथा नित्य जानकर और उन्हीं मेरे स्थूल अवयवरूप विभागोंको षोडश संख्यामें विभक्त देखकर ही वादकी सहायतासे अथवा पर्य्यालोचना दृष्टिके द्वारा सृष्टिको देखकर और मुझको कुलालके समान केवल उस सृष्टिके कर्त्तारूपसे ही अनुमान करनेमें समर्थ

अस्याश्च ज्ञानभूमौ हि क्षेत्रे तत्त्वज्ञमानसे ।
आत्मज्ञानीयबीजस्य प्ररोहो जायते ध्रुवम् ॥ ७१ ॥
एनां वदन्त्यतो भूमिं ज्ञानदां ज्ञानिनो जनाः ।
ददात्येषा यतो भूमिर्ज्ञानं नित्यं मुमुक्षवे ॥ ७२ ॥
आरूढानां ज्ञानभूमावेतस्यां नियमेन च ।
ममोपास्तौ प्रवृत्तानां येन केन प्रकारतः ॥ ७३ ॥
मुमुक्षूणां ध्रुवं चित्ते ज्ञानवायुप्रकम्पितम् ।
मूलमज्ञानवृक्षस्य सर्वथा शिथिलायते ॥ ७४ ॥
सन्न्यासदाभिधायां हि ज्ञानभूम्याम्प्रतिष्ठिताः ।
मुमुक्षवः शरीरं मे स्थूलमल्पसमीपतः ॥ ७५ ॥
सम्पश्यन्तो ममाङ्गेषु स्थूलेष्वेव महर्षयः !।
कुर्वन्तः सूक्ष्मशक्तीनामनुभूतिं निरन्तरम् ॥ ७६ ॥
धर्म्माधर्म्मौ च निर्णीय ह्यधर्म्मं त्यक्तुमीशते ।
ज्ञानभूमिर्द्वितीयाऽत एषा सन्न्यासदोच्यते ॥ ७७ ॥

होते हैं ॥ ६८-७० ॥ इसी प्रथम ज्ञानभूमिमें तत्त्वज्ञानीके हृदयरूप क्षेत्रमें आत्मज्ञानरूप बीजका अङ्कुर निश्चय उत्पन्न होजाता है॥७१॥ इस कारण ज्ञानीलोग इस ज्ञानभूमिको ज्ञानदा कहते हैं क्योंकि यह ज्ञानभूमि मुमुक्षुको नित्य ज्ञान प्रदान करती है ॥ ७२ ॥ इस ज्ञानभूमिमें पहुंचे हुए और किसी न किसी प्रकारसे मेरी उपासनामें नियमपूर्वक लगे हुए मुमुक्षुओंके चित्तमें ज्ञानवायुसे भलीभांति कंपाया हुआ अज्ञानवृक्षका मूल सर्व्वथा शिथिल होजाता है ॥ ७३-७४ ॥ हे महर्षियों ! सन्न्यासदानाम्नी द्वितीय ज्ञानभूमिमें स्थित मुमुक्षु ही मेरे स्थूल शरीरको कुछ निकटसे देखते हुए मेरे स्थूल अवयवोंमें ही सूक्ष्म शक्तियोंका निरन्तर अनुभव करते हुए और धर्म्माधर्म्मका निर्णय करके अधर्म्मके त्याग करनेकी योग्यता प्राप्त कर ही लेते हैं इसी कारण इस दूसरी ज्ञानभूमिका नाम

योगदायां तृतीयायां ज्ञानभूम्यां मुमुक्षवः ।
चित्तवृत्तिनिरोधस्य कुर्वन्तोऽभ्यासमुत्तमम् ॥ ७८ ॥
मच्छक्तिं संयमेनैतां माम्पुनर्ब्राह्मणोत्तमाः ! ।
अभ्यासेनैकतत्त्वस्य पृथक्त्वेन निरीक्षितुम् ॥ ७९ ॥
यस्मिन् काले प्रवर्त्तन्ते सूक्ष्मदृष्टिस्वरूपकम् ।
साधकेषु तदोदेति प्रत्यक्षं नन्वलौकिकम् ॥ ८० ॥
ज्ञानभूमिमिमां विज्ञा योगदाञ्च वदन्त्यतः ।
चित्तवृत्तिनिरोधं यद्योगमेषा ददात्यलम् ॥ ८१ ॥
लीलोन्मुक्तिं चतुर्थीं वै ज्ञानभूमिं प्रपद्य च ।
अघटघटनायां हि पटीयस्या मुमुक्षवः ॥ ८२ ॥
त्रैगुण्यलीलामय्या मे तत्त्वम्वै प्रकृतेर्विदुः ।
तदा लीलामयी स्वस्यां लीलायां प्रकृतिः पुनः ॥ ८३ ॥
नासज्जयितुमीष्टे तान् साधकान् विज्ञसत्तमाः ! ।
लीलोन्मुक्तिं बुधाः प्रोचुर्ज्ञानभूमिमिमामतः ॥ ८४ ॥

सन्न्यासदा कहा जाता है ॥ ७५-७७ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! योगदा नाम्नी तीसरी ज्ञानभूमिमें मुमुक्षु चित्तवृत्तिनिरोध करनेका उत्तम अभ्यास करतेहुए संयमके द्वारा इस मेरी शक्तिको और एकतत्त्वके अभ्यास द्वारा मुझको अलग अलग रूपसे देखनेमें जब प्रवृत्त होते हैं उस समय साधकोंमें सूक्ष्मदृष्टिरूपी अलौकिक प्रत्यक्षका उदय होता है ॥ ७८-८० ॥ इसी कारण विज्ञलोग इस ज्ञानभूमिको योगदा कहते हैं क्योंकि यह चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगको भलीभांति प्रदान करती है ॥ ८१ ॥ और हे विज्ञवरो ! लीलोन्मुक्ति नाम्नी चतुर्थी ज्ञानभूमिमें पहुंचकर ही मेरी लीलामयी अघटनघटना-पटीयसी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके तत्त्वको मुमुक्षु निश्चय ही पहचान लेते हैं, उस समय लीलामयी प्रकृति अपनी लीलामें उन साधकोंको पुनः नहीं फंसा सक्ती, इस कारण इस ज्ञानभूमिको बुधगणने

पञ्चमीं ज्ञानभूमिं ते यदा सम्प्राप्य सत्पदाम् ।
अभेद ज्ञानमाप्तुं वै चित्ते स्वस्मिन् मुमुक्षवः ॥ ८५ ॥
आरभन्ते तदा तेषामनुभूतेर्हि शक्तयः ।
विशेषेण विवर्द्धन्ते नात्र कार्य्या विचारणा ॥ ८६ ॥
अस्त्येकत्वादभेदो यो मन्मत्प्रकृतिगोचरः ।
यो वाऽभेदोऽस्ति मे विप्राः ! कार्य्यकारणरूपयोः ॥ ८७ ॥
तं वैज्ञानिकनेत्रेण विस्पष्टं ज्ञातुमीशते ।
ज्ञात्वा सम्यग्रहस्यञ्च विश्वोत्पादककर्म्मणः ॥ ८८ ॥
जगदेवास्म्यहमिति मां निरीक्ष्य विचारतः ।
कार्य्यब्रह्मण एतस्य विबुध्यन्ते स्म सत्यताम् ॥ ८९ ॥
एनां वदन्ति विद्वांसो भूमिं वै सत्पदामतः ।
सद्भावस्य यतोऽमुष्या ज्ञानं लोकैरवाप्यते ॥ ९० ॥
नन्वानन्दपदां षष्ठीं ज्ञानभूमिं प्रपद्य वै ।

लीलोन्मुक्ति कहा है ॥ ८२-८४ ॥ सत्पदानाम्नी पञ्चमी ज्ञानभूमिमें पहुंचकर वे मुमुक्षु जब अपने ही अन्तःकरणमें अभेद ज्ञानको प्राप्त करने लगते हैं उसी समय उनकी अनुभवशक्तियां विशेष बढ़ने लगती हैं इसमें विचारनेकी बात नहीं है ॥८५-८६॥ हे विप्रो ! एकत्वके कारण मुझमें और मेरी प्रकृतिमें जो अभेद है अथवा मेरे कारणस्वरूप और कार्य्यस्वरूपमें जो अभेद है वैज्ञानिक दृष्टिके द्वारा उसको वे स्पष्टरूपसे समझनेमें समर्थ होते हैं और जगदुत्पत्तिकारक कर्म्मका रहस्य अच्छी तरह समझकर जगत् ही मैं हूँ इस विचारसे मुझको देखकर इस कार्य्यब्रह्मकी सत्यता जानलेते हैं ॥ ८७-८९ ॥ इसी कारण इस ज्ञानभूमिको ही विद्वान्लोग सत्पदा कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा सद्भावका ज्ञान लोगोंको प्राप्त होता है ॥ ९० ॥ और हे विप्रो ! आनन्दपदानाम्नी षष्ठी ज्ञानभूमिमें पहुंचकर ही

एकाधारे तु मय्येव मम भक्ता मुमुक्षवः ॥ ९१ ॥
कर्म्मराज्यं जडं विप्राः ! दैवराज्यञ्च चेतनम् ।
शक्नुवन्ति यदा द्रष्टुं तदा मे रससागरे ॥ ९२ ॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तो जगदित्यहमेव माम् ।
समीक्षमाणा अद्वैतमानन्दमुपभुञ्जते ॥ ९३ ॥
बुधाः सम्प्रोचुरानन्दपदां भूमिमिमामतः ।
आनन्दः साधकैर्यस्मादस्यां भूमाववाप्यते ॥ ९४ ॥
अन्तिमां ज्ञानभूमिं मे सप्तमीञ्च परात्पराम् ।
सम्प्राप्य ज्ञानिनो भक्ताः कार्य्यकारणयोर्द्विजाः ! ॥ ९५ ।
भेददृष्टिलयं कृत्वा स्वरूपे यान्ति मे लयम् ।
भेदज्ञानलयेनैव तेषां शुद्धान्तरात्मनि ॥ ९६ ॥
सर्वेषु प्राणिवृन्देषु किलैकत्वप्रदर्शकम् ।
अद्वैतभावजनकाऽविभक्तज्ञानमुत्तमम् ॥ ९७ ॥
उदेति नात्र सन्देहोऽज्ञानध्वान्तापनोदकम् ।

मेरे भक्त मुमुक्षु मुझमें ही जड़मय कर्म्मराज्य और चेतनमय दैवराज्यको एकाधारमें जब देखनेमें समर्थ होते हैं तब वे मेरे रससागरमें उन्मज्जन निमज्जन करते हुए मैं ही जगत् हूँ इस प्रकार मुझको देखकर अद्वैत आनन्दका उपभोग करते हैं ॥ ९१-९३ ॥ इसी कारण इस ज्ञानभूमिको बुधगण आनन्दपदा कहते हैं क्योंकि इस भूमिमें साधक आनन्द प्राप्त करते हैं ॥ ९४ ॥ हे विप्रो ! परात्परा नाम्नी सप्तमी और अन्तिम ज्ञानभूमिमें मेरे ज्ञानीभक्त पहुंच कर कार्य्य कारणकी भेददृष्टिका लय करके मेरे स्वरूपमें लय हो जाते हैं और भेदज्ञानके लय होनेसे ही उनके विशुद्ध अन्तःकरणमें, सर्व्वभूतोंमें ऐक्यप्रदर्शक अज्ञानान्धकारापनोदक और अद्वैतभाव-उत्पादक अविभक्त ज्ञानका उत्तमरीतिसे उदय होता है इसमें सन्देह ही नहीं। उस समय मेरे ज्ञानिभक्तोंमें और मुझमें

तदा मे ज्ञानिभक्तेषु मयि भेदश्च नश्यति ॥ ९८ ॥
लीयन्ते मत्स्वरूपे ते स्वरूपज्ञानसंश्रयात् ।
अतो वदन्ति विद्वांस इमां भूमिं परात्पराम् ॥ ९९ ॥
एतासां ज्ञानभूमीनां केचित्तत्त्वबुभुत्सवः ।
स्थूलदृष्ट्या विरोधं यच्छङ्कन्ते तन्न साम्प्रतम् ॥ १०० ॥
हे विज्ञानविदो विप्राः ! नन्वज्ञानस्य सप्तभिः ।
प्रपूर्णं सप्तभिः सम्यक् तथा ज्ञानस्य भूमिभिः ॥ १०१ ॥
नूनमास्ते महाकाश-गोलकं परमाद्भुतम् ।
तस्य निम्नस्तराः सप्त सप्तच्छायाप्रपूरिताः ॥ १०२ ॥
उच्चैः सप्तस्तराः सप्तज्योतिर्भिश्चैव पूरिताः ।
अधः छायास्तराः सन्ति चत्वारो हि समष्टितः ॥ १०३ ॥
चतुर्धा भूतसङ्घानां चिदाकाशेन पूरिताः ।
स्तरा अज्ञानभूमीनां तत उर्द्ध्वं गतास्त्रयः ॥ १०४ ॥
ज्ञानभूमिस्तराः सप्त तथा दशविधानमून् ।
धृत्वाऽधिकारान् सम्पूर्णान् पिण्डान् दैवांश्च मानवान्॥१०५॥

भेदभाव नष्ट हो जाता है ॥ ९५-९८ ॥ वे मेरे स्वरूपमें स्वरूपज्ञानके अवलम्बनसे विलीन होजाते हैं इसी कारण इस भूमिको विद्वान् लोग परात्परा कहते हैं ॥ ९९ ॥ साधारण दृष्टिसे इन सातों ज्ञान-भूमियोंमें कोई कोई तत्त्वजिज्ञासु जो विरोध भावकी शंका करते हैं वह ठीक नहीं है ॥ १०० ॥ हे विज्ञानविद् ब्राह्मणो ! सप्त अज्ञान-भूमि और सप्त ज्ञानभूमिसे ही भलीभांति पूर्ण परमाद्भुत महाकाश गोलक है, उस गोलकके नीचेके सात स्तर सप्त छायासे पूर्ण हैं ॥१०१-१०२॥और ऊपरके सात स्तर सप्त ज्योतिसे ही पूर्ण हैं, नीचेके चार छाया स्तर चतुर्विध भूतसङ्घके समष्टि चिदाकाशसे पूर्ण हैं। उसके ऊपरकी तीन अज्ञानभूमियोंके स्तर तथा सात ज्ञानभू-मियोंके स्तर ये दश स्तर दशविध अधिकारोंको धारण करके

व्याप्नुवन्ति न सन्देहस्तस्माद्विज्ञानवित्तमाः! ।
एतद्दशविधेष्वेवाधिकारेष्वखिला हिताः ॥ १०६ ॥
निम्नान्निम्नतरा एवमुच्चैरुच्चतमास्तथा ।
दार्शनिकाधिकारा हि सन्ति सम्मिलिता ध्रुवम् ॥ १०७ ॥
अघट्यघटनायां सा प्रकृतिर्मे पटीयसी ।
मत्तो व्यक्ता महाकाश-गोलकेऽत्र प्रकाशते ॥ १०८ ॥
ऊर्ध्वगाः सप्तभूमीर्वै सा विद्यारूपतोऽश्नुते ।
अविद्यारूपतो विप्राः! सप्तभूमीश्च निम्नगाः ॥ १०९ ॥
सप्तच्छायाभिरेताभिर्ज्योतिर्भिः सप्तभिस्तथा ।
परिपूर्णं महाकाश-गोलकं मे जड़ात्मिका ॥ ११० ॥
बिभर्त्ति प्रकृतिर्नित्यं नूनमाधाररूपतः ।
अहं तस्योपरिष्ठाच्च सन्तिष्ठे शुद्धचिन्मयः ॥ १११ ॥
ज्ञानिनः स्याद्धि यस्यादोऽध्यात्मगोलकदर्शनम् ।
मद्दर्शनं ध्रुवं कर्त्तुं शक्नुयात्सर्वथैव सः ॥ ११२ ॥

समस्त मानव और दैवपिण्ड में व्याप्त हैं । इस कारण हे विज्ञानविद्वरो !।इन दशों अधिकारमें ही निम्नसे निम्नतर और उच्चसे उच्चतम सब हितकर दार्शनिक अधिकार सम्मिलित हैं यह निश्चय है॥१०३-१०७॥ मेरी वह अघटनघटनापटीयसी प्रकृति मुझसे व्यक्त होकर इस महाकाशगोलकमें प्रकाशित है ॥ १०८ ॥ हे विप्रो ! वही विद्यारूपसे ऊपरकी सप्त भूमिकाओंमें और अविद्यारूपसे नीचेकी सप्त भूमिकाओंमें परिव्याप्त है ॥ १०९ ॥ इन सप्त छाया और सप्त ज्योतियोंसे पूर्ण महाकाश गोलकको अधाररूपसे मेरी जडा प्रकृति नित्य ही धारण कर रही है और मैं शुद्ध चिन्मय होकर उसके ऊपर स्थित हूँ ॥ ११०-१११ ॥ इस अध्यात्मगोलकका दर्शन जिस ज्ञानवान्को ही होता है वह निश्चय ही मेरे दर्शन करनेमें

वैदिकैर्दर्शनैरुक्तं ज्ञानमेवास्ति लोचनम् ।
एतदर्थं न सन्देहः सत्यं सत्यं ब्रवीमि वः ॥ ११३ ॥
सप्तानां ज्ञानभूमीनामतो दर्शनसप्तके ।
विरोधं येऽनुकल्पन्ते ते भक्ता ज्ञानिनो न मे ॥ ११४ ॥
ज्ञानिभक्ता भवन्तो मे भवन्तो मे द्विजोत्तमाः ! ।
अद्वैतमविभक्तञ्च विकाररहितं तथा ॥ ११५ ॥
ज्ञानं प्राप्य परासिद्धेः कृपादृष्ट्यानुतोषिताः ।
मत्सायुज्यं समासाद्य लभेरन् कृतकृत्यताम् ॥ ११६ ॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
धीशर्षिसंवादे ज्ञानभूमिनिरूपणं
नाम तृतीयोऽध्यायः

सर्वथा समर्थ होता है॥११२॥ वैदिक दर्शनोक्त ज्ञानही इसके लिये नेत्र-स्वरूप हैं निःसन्देह मैं सत्य सत्य कहता हूँ ॥ ११३ ॥ अतः जो सप्त ज्ञानभूमियोंके सप्त दर्शनशास्त्रोंमें विरोधकल्पना करते हैं वे मेरे ज्ञानी भक्त नहीं हैं ॥ ११४ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो! आपलोग मेरे ज्ञानी-भक्त होते हुए अविभक्त, विकारहीन और अद्वैत ज्ञानको प्राप्त करके परासिद्धिकी कृपादृष्टिसे आश्वासित हो मत्सायुज्यको प्राप्त करके कृतकृत्यताको प्राप्त हों ॥ ११५-११६ ॥

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग-
शास्त्रका धीशर्षिसम्वादात्मक ज्ञानभूमिनिरूपण
नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्थ अध्याय

धर्म्मविज्ञाननिरूपणम् ।

ऋषय ऊचुः ॥ १ ॥

रहस्यं ज्ञानभूमीनां हे सर्व्वज्ञ ! महादूभुतम् ।
तथाऽविभक्तज्ञानस्य शैलीं श्रुत्वा प्रकाशिकाम् ॥ २ ॥

अस्माकं संशयाः सर्व्वे दूरीभूता न संशयः ।
अस्मानुपदिशैतच्च कृपां कृत्वाऽधुना प्रभो ! ॥ ३ ॥

को नन्वज्ञानभूमीनां प्रभावादूरक्षयन् मुदा ।
मुमुक्षून् साधकाञ्जीवान्नयते ज्ञानभूमिकाः ॥ ४ ॥

अतीत्याज्ञानभूमीश्च कैरुपायैर्मुमुक्षवः ।
लभन्ते ज्ञानभूमीर्हि साधकाः सत्त्वरं ध्रुवम् ॥ ५ ॥

क्रमादग्रेसरन्तश्च सप्तसु ज्ञानभूमिषु ।
भवन्तं प्राप्नुवन्त्यन्ते सच्चिदानन्दरूपिणम् ॥ ६ ॥

ऋषिगण बोले ॥ १ ॥

हे सर्व्वज्ञ ! ज्ञानभूमियोंका महान् अद्भुत रहस्य और अविभक्तज्ञानके प्रकाश करनेवाली शैलीको सुनकर हमारी सब शङ्काएँ दूर हो गई हैं इसमें सन्देह नहीं । अब हे प्रभो ! कृपा करके हमको यह भी आज्ञा कीजिये कि अज्ञानभूमियोंके प्रभावसे बचाकर मुमुक्षु साधकजीवोंको आनन्दपूर्व्वक ज्ञानभूमियोंमें कौन पहुंचाता है ? ॥ २–४ ॥ किन उपायों द्वारा मुमुक्षुसाधक अज्ञानभूमियोंको अतिक्रमण करके शीघ्रही ज्ञानभूमियोंको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥ और सातों ज्ञानभूमियोंमें क्रमशः अग्रसर होते हुए अन्तमें सच्चिदानन्दस्वरूप आपको प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

गणपतिरुवाच ॥ ७ ॥

ब्राह्मणाः ! नयते नूनं सर्वलोकहितप्रदः ।
ब्रह्माण्डपिण्डरूपायाः सृष्टेश्च धारको महान् ॥ ८ ॥
मानवान् धर्म्म एवायं कैवल्याभ्युदयप्रदः ।
संरक्ष्याज्ञानभूमिभ्यो ज्ञानभूमीर्निरन्तरम् ॥ ९ ॥
ददच्चाभ्युदयं सम्यक् सम्प्रापय्यान्तिमां क्रमात् ।
ज्ञानभूमिं ततो दत्ते निःश्रेयसमहो परम् ॥ १० ॥
अहमेवास्मि धर्म्मस्य स्थितिस्थानं द्विजर्षभाः ! ।
धर्म्माकृतिर्ममैवास्ते शक्तिरेव सनातनी ॥ ११ ॥
विराट्सृष्टेः प्रवाहस्य धारणं कृतवत्यहो ।
ममैव सात्त्विकी शक्तिर्नूनं धर्म्मो महर्षयः ! ॥ १२ ॥
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते द्विजसत्तमाः ! ।
विद्यते विप्रशार्दूलाः ! शक्तिर्मे त्रिगुणात्मिका ॥ १३ ॥

गणपति बोले ॥ ७ ॥

हे ब्राह्मणो ! सर्व्वलोकहितकर, ब्रह्माण्डपिण्डात्मक सृष्टिका धारक और अभ्युदय और मुक्तिविधायक यह महान् धर्मही मनुष्योंको अज्ञानभूमियोंसे बचाकर ज्ञानभूमियोंमें निरन्तरही पहुंचा देता है ॥८-९॥ और क्रमशः अभ्युदयको सम्यक् प्रदान करता हुआ अन्तिम ज्ञानभूमिमें पहुंचाकर अहो ! तदनन्तर कैवल्य प्रदान करता है ॥ १० ॥ हे विप्रो ! धर्म्मका मैं ही स्थिति स्थान हूँ और धर्म्मरूपा मेरी ही सनातनी शक्ति अहो ! विराट् सृष्टिके प्रवाहको निश्चय ही धारण किये हुए है । हे महर्षिगण ! निश्चय मेरी ही सत्त्वगुणमयी शक्ति धर्म्म है, हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है हे विप्रपुङ्गवो ! मेरी शक्ति त्रिगुणात्मिका है ॥ ११-१३ ॥

आकर्षणविशिष्टा या सा शक्तीराजसी मता।
विकर्षणेन सम्पृक्ता शक्तिर्मे तामसी तथा ॥ १४ ॥
सामञ्जस्यं प्रकुर्वाणा तयोः शक्त्योर्द्वयोरिह।
सात्त्विकी सैव धर्म्मोऽस्ति शक्तिर्मे नात्र संशयः ॥ १५ ॥
परिव्याप्नोति धर्म्मस्य शक्तिरेषैव धारिका।
परमाणुभ्य आ नूनं पूर्णां ब्रह्माण्डविस्तृतिम् ॥ १६ ॥
शक्तेः संधारिकाया मे धर्म्मस्यैव प्रभावतः।
सूर्य्येन्द्वादिग्रहाः सर्व्वे तथा नक्षत्रमण्डलम् ॥ १७ ॥
उपग्रहादयोऽप्येवं विराड्देहे मम।निशम्।
स्वस्वकक्षामुपाश्रित्य भ्रमन्ते हि समन्ततः ॥ १८ ॥
सृष्टेरक्षाञ्च कुर्वन्ति साहाय्यं ददतो मिथः।
देवासुरेण युद्धेन दैव्याः सृष्टेः पवित्रताम् ॥ १९ ॥
सम्पादयन्ती धर्म्मस्य धारिका शक्तिरुत्तमा।
प्रतिष्ठापयते देवान् स्वस्वलोकेऽसुरांस्तथा ॥ २० ॥

आकर्षणशक्तिविशिष्ट राजसिकशक्ति कहाती है और विकर्षण-शक्तिविशिष्ट तामसिक कहलाती है ॥ १४ ॥ और उन दोनों शक्तियोंका इस संसारमें समन्वय करनेवाली मेरी जो सात्त्विक शक्ति है वही धर्म्म है इसमें सन्देह नहीं ॥ १५ ॥ यही धर्म्मकी धारिका शक्ति परमाणुसे लेकर ब्रह्माण्डके विस्तार पर्य्यन्तमें परिव्याप्त है ॥१६॥ धर्म्मकी धारिकाशक्तिके प्रभावसे ही सब सूर्य्य चन्द्रादि ग्रहउपग्रहादि और नक्षत्रमण्डल मेरे विराट् देहमें चौतरफ अपनी अपनी कक्षामें निरन्तर परिभ्रमण करते हैं ॥ १७--१८ ॥ और परस्परको सहायता देकर सृष्टिकी रक्षा करते हैं। धर्म्मकीउत्तम धारिका। शक्ति देवासुर संग्रामके द्वारा दैवी सृष्टिकी पवित्रता सम्पादन करती हुई देवताओं और असुरोंको अपने अपने लोकोंमें

निश्चितं मातृभावेन विज्ञाः ! धर्म्ममयेण मे ।
प्रकृतेः पालिता जीवाः पोषिताश्च निरन्तरम् ॥२१ ॥
उद्भिज्जात्स्वेदजं गत्वा स्वेदजादण्डजं तथा ।
ततो गच्छन्त्यहो विप्राः ! अण्डजाच्च जरायुजम् ॥ २२ ॥
जरायुजाद्योनितो हि मर्त्ययोनिं गताः पुनः ।
भवन्ति मोक्षमार्गस्य नूनमेतेऽधिकारिणः ॥ २३ ॥
ज्ञानं हि धर्माधर्म्मस्य मानवेभ्यो हि केवलम् ।
कृतास्ते मोक्षमार्गस्य पथिका ददता मया ॥ २४ ॥
धारिका शक्तिरेवासौ धर्म्मस्य विप्रपुङ्गवाः ! ॥
क्रमादुन्नमयन्ती वै मानवानुत्तरोत्तरम् ॥ २५ ॥
कृत्वाऽधिकारिणो ज्ञानभूमेरन्ते च तानहो ।
कैवल्यपदवीं तेभ्यः प्रदत्ते च शनैः शनैः ॥ २६ ॥
सर्व्वेषां रक्षको धर्म्मः सर्वजीवहितप्रदः ।
निखिलव्यापकश्चास्ति सर्व्वेभ्योऽभ्युदयप्रदः ॥ २७ ॥

सुप्रतिष्ठित रखती है ॥ १९–२० ॥ हे विज्ञो ! मेरी प्रकृतिके धर्म्ममय मातृभावके द्वारा ही निरन्तर पालित पोषित होकर जीव हे विप्रो ! उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज और जरायुज योनिसे मनुष्ययोनिमें पहुंचकर अवश्य ही वे कैवल्यमार्ग अर्थात् मोक्षमार्गके अधिकारी बन जाते हैं ॥ २१–२३ ॥ मैंने केवल मनुष्यों-को ही धर्म्माधर्म्मका ज्ञान प्रदान करके उनको कैवल्यमार्गका पथिक बना दिया है ॥ २४ ॥ हे विप्रश्रेष्ठो ! यह धर्म्मकी धारिका शक्ति ही मनुष्योंकी क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति कराकर ही और अहो ! अन्तमे उनको ज्ञानभूमिका अधिकारी बनाकर शनैः शनैः कैवल्यपद प्रदान करती है ॥ २५–२६ ॥ धर्म्म सर्व्वव्यापक सर्व्वजीवहितकारी सर्व्व-रक्षक सबको अभ्युदयप्रद और सबके हृदयमें मेरे स्वरूपका प्रकाश

सर्व्वेषां मानसे नूनं मत्स्वरूपप्रकाशकः ।
साधकानां हि जीवानां शिवत्वस्य विधायकः ॥ २८ ॥
धर्म्मोऽयं ब्राह्मणाः ! प्रोक्तः सार्वभौमस्वरूपभाक् ।
साधारणविशेषाभ्यां द्विधा भिन्नो न संशयः ॥ २९ ॥
साधारणस्तयोर्धर्म्मः सर्वजीवाहिते रतः ।
अधिकारविशेषस्य जीवानां केन्द्रभागिनाम् ॥ ३० ॥
विशेषस्तु विशेषेण हितं सम्पादयत्यलम् ।
साधारणस्य धर्म्मस्य वर्णयेऽङ्गानि साम्प्रतम् ॥ ३१ ॥
आकर्ण्यन्तां भवाद्भिश्च सावधानेन चेतसा ।
चतुर्विंशतितत्त्वानां नूनं सन्त्यनुरूपतः ॥ ३२ ॥
अङ्गानि पूर्णधर्म्मस्य चतुर्विंशतिरेव भोः ! ।
दानं हि त्रिविधं प्रोक्तं विद्यार्थाभयभेदतः ॥ ३३ ॥
कायिकं वाचिकञ्चैव तथा मानसमेव च ।
तपोऽपि त्रिविधः प्रोक्तं तपोविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३४ ॥
षड्विधः कर्म्मयज्ञोऽस्ति नित्यो नैमित्तिकस्तथा ।

करनेवाला एवं साधक जीवोंको शिवत्वप्रदानकारक है ॥२७-२८॥ हे ब्राह्मणो ! साधारण और विशेष रूपसे दो प्रकारका यह सार्व्व-भौमस्वरूपी धर्म कहा गया है यह निःसन्देह है ॥ २९ ॥ उनमेंसे साधारण धर्म्म सर्व्वजीवहिततत्पर है और अधिकारविशेषके केन्द्रोंसे युक्त जीवोंका विशेष धर्म्म निश्चय ही परम हित सम्पादन करता है। मैं इस समय साधारण धर्म्मके अङ्गवर्णन करता हूँ आप सावधान चित्तसे सुनो। चौबीस तत्त्वोंके अनुरूप पूर्णावयव साधारण धर्म्मके निश्चय चौबीस ही अंग हैं। दान त्रिविध कहा गया है, यथा-अर्थदान, विद्यादान और अभयदान॥ ३०-३३ ॥ तपोवेत्ता महात्माओंने तपके भी शारीरिक वाचनिक मानसिक रूपसे तीन भेद कहे हैं॥ ३४ ॥ कर्म्मयज्ञ नित्य नैमित्तिक काम्य

काम्योऽध्यात्मोऽधिदैवश्च षष्ठश्चैवाधिभौतिकः ॥ ३५ ॥
उपास्तियज्ञभेदाश्च विद्यन्ते नवधा ननु ।
ते सर्व्वे भक्तिमूलाः स्युर्योगमूलास्तथैव च ॥ ३६ ॥
उपास्तेरास्ति योगो हि स्थूलो देहो न संशयः ।
तस्याश्चैव द्विजाः ! ज्ञेया भक्तिः प्राणस्वरूपिणी ॥ ३७ ॥
मन्त्रो हठो लयो राज इति भेदाच्चतुर्विधात् ।
चतुर्धोपासना वेद्या नूनं योगविचारतः ॥ ३८ ॥
तथा भक्तिप्रभेदेन पञ्चधोपासनास्त्यहो ।
रागद्वेषादिसञ्जुष्टा भक्ता मेऽशुचयो द्विजाः ! ॥ ३९ ॥
मां सदोपासते मूढ़ा आसुरीष्वेव शक्तिषु ।
सकामाः फलमिच्छन्तः शुभं भक्तगणा मम ॥ ४० ॥
मामेवोपासते शश्वन्नूनं दैवीषु शक्तिषु ।
विषयानन्द एवाहो ब्रह्मानन्दानुभावकाः ॥ ४१ ॥
स्वभावादेव जायन्ते भक्तवृन्दा ममोन्नताः ।
मल्लीलाविग्रहोपास्तौ रतात्मानो न संशयः ॥ ४२ ॥

और अध्यात्म अधिदैव अधिभूत रूपसे षड्विध है ॥ ३५ ॥ उपासनायज्ञके नौ ही भेद हैं वे सब भक्ति और योगमूलक हैं ॥ ३६ ॥ उपासनाका योग स्थूलदेह है यह निस्सन्देह है। हे ब्राह्मणो ! भक्ति उसीकी ही प्राणरूपिणी है॥ ३७ ॥ योगके विचारसे उपासना मन्त्र हठ लय राज इन चतुर्विध भेदोंसे निश्चय ही चतुर्विध जाननी चाहिये ॥ ३८ ॥ और अहो ! भक्तिके भेदसे उपासना पंचविध है। हे ब्राह्मणो ! रागद्वेषयुक्त और अशुचि मेरे मूढ़ भक्तगण आसुरी शक्तियोंमें ही मेरी सदा उपासना करते हैं । शुभ फलेच्छु सकाम भक्तगण मेरी दैवी शक्तियोंमें निरन्तरही मेरी ही उपासना करते हैं। अहो ! विषयानन्दमें ही ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले मेरे उन्नत भक्तगण स्वभावसे ही मेरे लीलाविग्रहकी उपासनामें रतात्मा

भक्ता मे ज्ञानिनो रूपे सगुणे निर्गुणे तथा ।
मामुपास्य निमज्जन्ति परमानन्दसागरे ॥ ४३ ॥
श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च ।
ज्ञानयज्ञस्य भेदाः स्युस्त्रिविधा हि महर्षयः ! ॥ ४४ ॥
चतुर्विंशतिरेतानि धर्म्मस्य प्राकृतान्यहो ।
अङ्गानि सर्वजीवानां साधकानि हितस्य नु ॥ ४५ ॥
विभिन्नरुचयो लोका नानाशक्तिमया यतः ।
अतः साधारणो धर्म्मः सर्वप्राणिहितावहः ॥ ४६ ॥
अङ्गैः पूर्णस्य धर्म्मस्य चतुर्विंशतिसङ्ख्यकैः ।
स्वरूपं चेद्विजानीयुः सर्वलोकहितालयम् ॥ ४७ ॥
धर्म्मजिज्ञासवो नूनमुदारहृदयास्तदा ।
श्रीगुरोः पदवीं पूज्यां प्राप्नुयुः सर्वप्राणिनाम् ॥ ४८ ॥
यावन्तो धर्म्ममार्गा वै जनिष्यन्ते युगे युगे ।
साधारणस्य धर्म्मस्य कियन्त्यङ्गान्यमीषु ते ॥ ४९ ॥

होते हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ ३८-४२ ॥ और ज्ञानीभक्तगण मेरे सगुणरूप तथा निर्गुणरूपमें मेरी उपासना करके परमानन्दसागरमें मग्न होते हैं ॥ ४३ ॥ हे महर्षिगण ! श्रवण मनन और निदिध्यासन रूपसे ज्ञानयज्ञके तीन भेद कहे गये हैं ॥ ४४ ॥ धर्म्मके अहो ! ये चतुर्विंशति स्वभावसिद्ध अङ्ग सर्व्वजीवहितसाधक कहे गये हैं ॥ ४५ ॥ क्योंकि लोकमें रुचि विभिन्न है और सामर्थ्य भी विभिन्न है इस कारण साधारण धर्म्म सर्व्वप्राणिहितप्रद है ॥ ४६ ॥ यदि चौबीस अङ्गोंसे पूर्ण धर्म्मके सर्व्वलोकहितकर स्वरूपको धर्म्म-जिज्ञासु जानजायँ तो वे उदारहृदय होकर सब प्राणियोंके ही गुरुकी पूज्यपदवीको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४७-४८ ॥ युगयुगमें जितने ही धर्म्ममार्ग पैदा होंगे वे सब साधारण धर्म्मके इन अङ्गोंमेंसे कुछ अङ्गोंका आश्रय लेकर ही निःसन्देह कृतकृत्यताको प्राप्त होंगे ।

गृहीत्वैव प्रयास्यन्ति कृतार्थत्वमसंशयम् ।
प्रादुर्भूताश्च ये लोके धर्म्ममार्गा द्विजोत्तमाः ! ॥ ५० ॥
अधुनावधि तेऽप्येवं कृतार्थत्वं गता ध्रुवम् ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ५१ ॥
प्रपूर्णत्वं हि धर्मस्य शाश्वतस्येदमेव नु ।
एतदेव महत्त्वञ्च पितृभावोऽप्ययं ध्रुवम् ॥ ५२ ॥
अन्यधर्म्मान्न यो द्वेष्टि बाधते वा कदाचन ।
यथायोग्यन्तु सर्वेभ्यो द्विविधाऽभ्युदयप्रदः ॥ ५३ ॥
निःश्रेयसस्य चाऽध्वानं यस्तु दर्शयतेऽखिलान् ।
धर्म्मः सनातनो नूनमियं ह्युपनिषन्मता ॥ ५४ ॥
विप्राः ! विशेषधर्म्मस्य स्वरूपं महदद्भुतम् ।
यथा वार्णाश्रमो धर्म्म आर्य्यजातेः शुभावहः ॥ ५५ ॥
अनार्य्यजातिजातानां न तथास्त्युपयोगभाक् ।
अतोऽयं वर्त्तते धर्म्मो विशेषो नात्र संशयः ॥ ५६ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! अबतक संसारमें जितने धर्म्ममार्ग उत्पन्न हुए हैं वे भी ऐसेही कृतार्थताको प्राप्त हुए हैं हे विप्रो ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ४९-५१ ॥ यही शाश्वत धर्म्मकी निश्चय पूर्णता है, यही महत्त्व है और निश्चय यही पितृभाव है ॥ २ ॥ जो धर्म्म अन्यधर्मोंसे द्वेष न करे अथवा अन्यधर्मोंको कभी बाधा न दे और सबको यथाधिकार उभयविध अभ्युदय प्रदान करे और सबको निःश्रेयसका मार्ग बतावे वही सनातन धर्म्म है यही उपनिषद् है ॥ ५३-५४ ॥ हे विप्रो ! विशेष धर्म्मका स्वरूप अतिविचित्र है । जैसे आर्य्य जातिके लिये वर्ण और आश्रमधर्म्म परमहितकर कहा गया है वैसे अनार्य्य जातिके लिये वह उपयोगी नहीं है इस कारण यह वर्ण और आश्रम धर्म्म विशेष धर्म्म है इसमें सन्देह

प्रवृत्तिरोधको नूनं वर्णधर्मो महर्षयः ! ।
निवृत्तेः पोषकश्चास्ति धर्म्म आश्रमगोचरः ॥ ५७ ॥

धर्म्मावेतावुभावेव सञ्जीव्य शाश्वतीः समाः ।
आर्य्यजातिं सुरक्षेतां साङ्कर्य्यात् पतनात्तथा ॥ ५८ ॥

नारीधर्म्मस्तपोमूलो नृधर्म्मो यज्ञमूलकः ।
एतौ द्वावपि वर्त्तेते धर्म्मौ विप्राः ! विशेषकौ ॥ ५९ ॥

प्रवृत्तिधर्म्म एकोऽस्ति निवृत्तिधर्म्म इत्यपि ।
राजधर्म्मः प्रजाधर्म्मः शाक्तः शैवश्च वैष्णवः ॥ ६० ॥

सौर्य्यो धर्म्मोऽपि भो विप्राः ! आपद्धर्म्मादयस्तथा ।
एते विशेषधर्म्मस्य विद्यन्तेऽन्तर्गताः खलु ॥ ६१ ॥

सर्वप्रधान आद्यश्च वरीयान् व्यापकस्तथा ।
सदाचारो विशेषेषु धर्म्मेषु विद्यते द्विजाः ! ॥ ६२ ॥

यतो धर्म्मानुकूलो यो व्यापारो वपुषोऽखिलः ।
सद्भिः प्रोक्तः सदाचारो नन्वसौ पुण्यवर्द्धनः ॥ ६३ ॥

नहीं ॥ ५५-५६ ॥ हे महर्षियो ! वर्णधर्म्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रम धर्म्म निवृत्तिपोषक है । आर्य्य जातिको ये दोनों धर्म्म ही चिरकाल पर्य्यन्त जीवित रखकर संकरता दोष और पतनसे बचाते हैं ॥ ५७-५८ ॥ हे ब्राह्मणो ! तपमूलक नारीधर्म्म और यज्ञमूलक पुरुषधर्म्म ये दोनों भी विशेष धर्म्म हैं ॥ ५९ ॥ प्रवृत्तिधर्म्म निवृत्ति धर्म्म राजधर्म्म प्रजाधर्म्म शाक्तधर्म्म शैवधर्म्म वैष्णवधर्म्म सौर्यधर्म और आपद्धर्म्म आदि, ये सब हे ब्राह्मणो ! विशेष धर्म्मके अन्तर्गत ही हैं ॥ ६०-६१ ॥ हे ब्राह्मणो ! विशेष धर्म्मोंमें सबसे प्रधान श्रेष्ठ व्यापक और प्रथम धर्म्म सदाचार है ॥ ६२ ॥ क्योंकि धर्म्मानुकूल सब शारीरिक व्यापारोंको सत्पुरुष सदाचार कहते हैं यह निश्चय

आस्ते विशेषधर्म्मस्य ह्यधिकारोऽन्तिमो द्विजाः ! ।
सन्न्यासाश्रम एवासौ नात्र कार्य्या विचारणा ॥ ६४ ॥
सन्न्यासो न भवेद्विज्ञाः ! कर्मत्यागेन केवलम् ।
किन्तु सन्न्याससंसिद्धिर्वासनात्यागतो भवेत् ॥ ६५ ॥
अतो विशेषधर्म्मस्याधिकारस्यातिविस्तृतेः ।
वैचित्र्याच्च परात्स्थूलस्वांगसञ्चालनात्मिकाम् ॥ ६६ ॥
सदाचारमयीं स्थूलस्थूलामारभ्य सत्क्रियाम् ।
सूक्ष्मसूक्ष्मतमब्रह्मसद्भावप्राप्तिकारणम् ॥ ६७ ॥
परिव्याप्य च सन्न्यासं सम्बन्धस्तस्य विद्यते ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥ ६८ ॥
वर्णाश्रमादिधर्म्माणां विशेषाणां द्विजोत्तमाः ! ।
पालनेनैव मे भक्ताः क्रमशोऽज्ञानभूमितः ॥ ६९ ॥
निवृत्य ज्ञानभूमीनां जायन्ते पथिका ध्रुवम् ।
साधारणस्य धर्म्मस्य साधकाः क्रमशो वरम् ॥ ७० ॥

ही पुण्यवर्द्धक है ॥ ६३ ॥ विशेष धर्म्मका अन्तिम अधिकार ही हे ब्राह्मणो ! यह सन्न्यास है यह निश्चित है ॥ ६४ ॥ हे विप्रवरो ! केवल कर्म्मके त्यागसे सन्न्यास नहीं होता किन्तु वासनाके त्यागसे ही सन्न्यासकी सिद्धि होती है इस कारण विशेष धर्म्मका अधिकार अति विचित्र और अति विस्तृत होनेसे अपने स्थूल अङ्गके संचालनरूपी सदाचारमय स्थूलातिस्थूल सत् क्रियासे लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मसद्भावके प्राप्तिके कारणरूपी सन्न्यास तकसे उसका सम्बन्ध है । हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ६५–६८ ॥ हे विप्रो ! वर्णाश्रम आदि विशेष धर्म्मोंके पालन द्वारा ही मेरे भक्त क्रमशः अज्ञानभूमियोंसे बचकर ज्ञानभूमिके ही पथिक बनते हैं और हे द्विजश्रेष्ठो ! क्रमशः साधारण धर्म्मके सार्व्वभौम

सार्वभौमं स्वरूपं वै सर्वजीवहितप्रदम् ।
सर्वशक्तिमयं दिव्यं व्यापकं मोक्षसाधकम् ॥ ७१ ॥
प्राणिनोऽनुभवन्त्यत्र यावदेव द्विजोत्तमाः ! ।
ज्ञानस्य तावतीं भूमिमारोहन्ति समुन्नताम् ॥ ७२ ॥
श्रेष्ठं वेदान्तसिद्धान्तानुभवं प्राप्य सत्वरम् ।
मत्सायुज्यं लभन्तेऽन्ते ततो यान्ति कृतार्थताम् ॥ ७३ ॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
धीशर्षिसंवादे धर्म्मविज्ञाननिरूपणं नाम
चतुर्थोऽध्यायः ।

सर्व्वजीवहितकारी मोक्षसाधक और सर्व्वशक्तिमय श्रेष्ठ व्यापक दिव्य स्वरूपको साधक जीवधारी यहां जितना ही अनुभव करते जाते हैं वे उतनी ही उन्नतसे उन्नततर ज्ञानभूमिमें आरोहण करते जाते हैं ॥ ६९-७२ ॥ अन्तमें वेदान्तसिद्धान्तके श्रेष्ठ अनुभवको शीघ्र प्राप्त करके मत्सायुज्यको प्राप्त करते हैं और इसके बाद कृतार्थ हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

इसप्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धी धीशर्षि संवादात्मक योगशास्त्रका धर्म्मविज्ञाननिरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ।

वेदान्तनिरूपणम् ।

ऋषय ऊचुः ॥ १ ॥

जगद्गुरो ! आदिगुरो ! पूज्य ! वेदान्तकृद्विभो ! ।
भवद्दयोदयाद्देव प्राप्तवन्तो वयं श्रुतीः ॥ २ ॥
देवापारकृपासिन्धोश्चलद्वीचेस्तटाश्रयात् ।
श्रुतवन्तो रहस्यानि त्वत्तोऽनेकानि साम्प्रतम् ॥ ३ ॥
तत्कृतार्थीभवन्तोऽद्य तदेव प्रार्थयामहे ।
ज्ञानरत्नाब्धिवेदेषु यद्वेदान्तं प्रचक्षते ॥ ४ ॥
तस्य सर्व्वोत्तमं तत्त्वज्ञानमस्मानुपादिश ।
वयं येन परां शान्तिमाप्नुयामः सुनिश्चितम् ॥ ५ ॥

ऋषिगण बोले ॥ १ ॥

हे जगद्गुरो ! हे आदिगुरो ! हे वेदान्तकृत् ! हे पूज्य ! हे विभो ! हे देव ! आपकी कृपाके उदयसे ही हमलोगोंने वेदोंको प्राप्त किया था ॥ २ ॥ और इस समय आपके चलत्तरङ्ग अपार कृपारूपी समुद्रके तटाश्रयसे हमलोगोंने आपसे वेदके अनेक रहस्य सुने हैं । ॥ ३ ॥ जिससे कृतकृत्यताको प्राप्त करते हुए आज यही प्रार्थना करते हैं कि ज्ञानरत्नके समुद्र वेदोंमें जिसको वेदान्त कहा है ॥ ४ ॥ उसी सर्व्वोत्तम तत्त्वज्ञान का हमको उपदेश दें जिससे हम निश्चित रूपसे परमशान्ति प्राप्त करें ॥ ५ ॥

गणपतिरुवाच ॥ ६ ॥

सर्वोपनिषदां सारः पीयूषं वेदवारिधेः ।
विज्ञाः ! वेदान्तयोगोऽयमिदानीं वर्ण्यते मया ॥ ७ ॥
मननाच्छ्रवणाद्यस्य निदिध्यासनतस्तथा ।
त्रितापतो विनिर्मुक्तास्तत्त्वज्ञानाब्धिपारगाः ॥ ८ ॥
क्षमन्तेऽव्ययमात्मानं साक्षात्कर्त्तुं मुमुक्षवः ।
ात्र कश्चन सन्देहः कर्त्तव्यो विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ९ ॥
स्वभावजस्य प्रकृतेः कर्मणः सहजस्य मे ।
पाशसङ्गादविद्याया अनाद्यायाः प्रभावतः ॥ १० ॥
आविर्भवति जीवत्वं चिज्जड़ग्रन्थिरूपकम् ।
अविद्येयमनाद्याऽस्ति जीवभावप्रकाशिनी ॥ ११ ॥
त्रिगुणात्मप्रकृत्याश्च लौल्यात्स्वाभाविकादबुधाः ! ।
नूनं कर्मप्रवाहोऽयमनादिर्विद्यते खलु ॥ १२ ॥
यतोऽस्ति सहजं कर्म्म कथितं पाशसन्निभम् ।

गणपति बोले ॥ ६ ॥

हे विज्ञवरो ! मैं तुमसे सब उपनिषदोंके साररूप और वेद समुद्रके अमृतरूप इस वेदान्तयोगका वर्णन करता हूं जिसके श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा मुमुक्षु ज्ञानसमुद्रको पार करके त्रितापसे मुक्त होते हुए अव्यय आत्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होते हैं हे विप्रश्रेष्ठो ! इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिये ॥ ७-९ ॥ मेरी प्रकृतिके स्वभावसे उत्पन्न सहज कर्म्मके जालमें फंसनेसे और अनादि अविद्याके प्रभावसे जीवका चिज्जड़ग्रन्थिरूप जीवत्व प्रकट होता है । यह जीवभावप्रकाशिनी अविद्या अनादि है ॥ १०-११ ॥ हे विज्ञो ! त्रिगुणमयी प्रकृतिके स्वाभाविक चाञ्चल्यहेतु यह कर्म्मप्रवाह भी अनादि है ॥ १२ ॥ क्योंकि सहज कर्म्म

मत्प्रकृत्याः स्वभावेन सहजातं न संशयः ॥ १३ ॥
भूतभावोद्भवकराद्विसर्गात्सहजादलम् ।
चतुर्धा भूतसङ्घोऽयं जायते कर्मणः स्वतः ॥ १४ ॥
अनाद्याया अविद्यायाः प्रभावेण महर्षयः ! ।
जायते चिज्जड़ग्रन्थिर्दृढोऽज्ञानमयो हि यः ॥ १५ ॥
जीवभावः स एवास्ति संसारावर्त्तपातकः ।
अविद्योपहितं विप्राः ! चैतन्यं प्रकृतेर्मम ॥ १६ ॥
सत्सत्तायाः प्रभावेण व्यष्ट्यहङ्कारघूर्णितम् ।
द्वैतस्योद्बोधकं विज्ञाः ! जीवभावं प्रपद्यते ॥ १७ ॥
पुनर्मे ज्ञानिनो भक्ता विद्यासाहाय्यतो द्विजाः ! ।
प्राप्य नित्यास्थितं मोक्षं विलीयन्ते ध्रुवं मयि ॥ १८ ॥
अविद्याया दृढं जालं कर्मबन्धश्च दुर्दमम् ।
मम विप्राः ! प्रभावेण मद्भक्ता अतियन्त्यहो ॥ १९ ॥

पाश सदृश और मेरी प्रकृतिके स्वभावके साथ उत्पन्न कहा गया है इसमें सन्देह नहीं ॥ १३ ॥ भूतभावोद्भवकर विसर्गरूपी सहज-कर्मके द्वारा इस चतुर्विधभूतसङ्घ की उत्पत्ति स्वतः ही होती है ॥ १४ ॥ हे महर्षिगण ! अविद्याके प्रभावसे जो दृढ अज्ञानमयी चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होती है वही संसाररूपी भंवर में डालने वाला जीवभाव है। हे, विज्ञ विप्रो ! अविद्योपहित चैतन्य मेरी प्रकृति की सत्सताके प्रभावसे व्यष्टि अहङ्कार के चक्र में पड़कर द्वैतभाव-उद्बोधक जीवत्वको प्राप्त करता है ॥ १५-१७ ॥ पुनः हे ब्राह्मणो ! मेरा ज्ञानी भक्त विद्याकी सहायता प्राप्त कर नित्य-स्थित कैवल्यपद को प्राप्त करता हुआ मुझमें ही मिलजाता है ॥ १८ ॥ हे ब्राह्मणो ! मेरे भक्त अविद्याके दृढ़ जालको और दुर्दम कर्मके बन्धनको अहो ! मेरे प्रभावसे अतिक्रमण करलेते

यतस्त्रैगुण्यमय्यास्ते प्रकृतिर्मम तामतः।
स्वभावेनोपतिष्ठन्ते रजःसत्त्वतमोगुणाः ॥ २० ॥
उत्पत्तिं रजसा विप्राः ! स्थितिं सत्त्वेन सन्ततम्।
तमोगुणेन संहारं करोति प्रकृति ःस्वतः ॥ २१ ॥
अस्मिन् स्वभावसिद्धेऽपि प्रकृतेर्मे गुणत्रये।
उभावेव प्रधानौ स्तस्तमःसत्त्वाभिधानकौ ॥ २२ ॥
प्रवृत्तिपरकत्वेन सृष्टिकारितया तथा।
रजस्तु केवलं ज्ञेयं तमःसत्त्वसहायकम् ॥ २३ ॥
अतस्तमोमयी विप्राः ! यदास्ते प्रकृतिर्मम।
विद्याविद्याप्रभेदज्ञैरविद्या सोच्यते तदा ॥ २४ ॥
प्रकृतिर्मे यदा त्वेषा शुद्धा सत्वमयी भवेत्।
नाम्ना विद्या तदा लोके तत्त्वज्ञैरभिधीयते ॥ २५ ॥
पारिणामो भवेत् सत्त्वे तमसो नात्र संशयः।
सत्त्वस्यापि भवेन्नूनं परिणामस्तमस्यहो ॥ २६ ॥

है ॥ १९ ॥ क्योंकि मेरी प्रकृति त्रिगुणमयी है अतः सत्त्व रज तम ये तीनों गुण उसमें स्वभावसे रहते हैं ॥ २० ॥ हे ब्राह्मणो ! प्रकृति रजोगुणसे उत्पत्ति सत्त्वगुणसे निरन्तर स्थिति और तमोगुण से लय अर्थात् संहार स्वभावसे करती रहती है ॥ २१ ॥ मेरी प्रकृतिके ये तीनों गुण स्वभावसिद्ध होने पर भी तम और सत्त्व ये दो गुण ही प्रधान हैं ॥ २२ ॥ रजोगुण प्रवृत्तिपर और सृष्टि कारी होने से वह तो तमोगुण और सत्त्वगुणका केवल सहायक है ॥ २३ ॥ इसी कारणसे हे ब्राह्मणो ! मेरी प्रकृति जब तमोमयी रहती है तब उसको विद्या और अविद्याके भेदको जाननेवाले अविद्या कहते हैं ॥ २४ ॥ और जब वह शुद्ध सत्त्वमयी रहती है तब संसारमें तत्त्वज्ञानी उसको विद्या कहते हैं ॥ २५ ॥ अहो ! सत्त्वमें तमका परिणाम और तममें भी सत्त्वका परिणाम अवश्य होता

रजोगुणो यतो नूनं साहाय्यं कुरुते द्वयोः ।
स्वभावात्प्रकृतिर्मेऽस्ति यतश्च परिणामिनी ॥ २७ ॥
अतः स्वभावसिद्धोऽयं परिणामो मिथस्तयोः ।
महर्षयः ! न चैवायं सिद्धान्तो विस्मयावहः ॥ २८ ॥
स्वतः पूर्णे यदा सत्त्वपरिणामस्तमोगुणे ।
जायते चिज्जड़ग्रन्थिस्तत्रैवोत्पद्य प्रस्फुटम् ॥ २९ ॥
प्रकाशभावमापन्नः परमाणौ जड़ात्मके ।
उत्पादयति जीवत्वं साक्षात्प्रामाण्यबोधकम् ॥ ३० ॥
सा चैतन्यमयी सत्ता चिज्जड़ग्रन्थिरूपिणी ।
क्रमाद्विकाशमापन्नोद्भिज्जयोनौ महर्षयः ! ॥ ३१ ॥
प्राप्य स्वेदजयोनिं तामाण्डजीं योनिमाश्रिता ।
एत्य जारायुजीं योनिं मर्त्ययोनिं प्रपद्यते ॥ ३२ ॥
तत्र सत्त्वप्रपूर्णत्वाश्रयेण प्रकृतेर्मम ।

है इसमें सन्देह नहीं ॥ २६ ॥ क्योंकि रजोगुण ही उभय सहायक है, और मेरी प्रकृति स्वभाव से परिणामशीला है ॥ २७ ॥ हे महर्षिगण ! इन दोनों गुणोंका आपसमें यह परिणाम स्वभावसिद्ध है इस कारण यह सिद्धान्त आश्चर्यकारक नहीं ही है ॥ २८ ॥ जब पूर्ण तमोगुणमें स्वभावसे सत्त्वपरिणाम उत्पन्न होता है वहां चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होकर सुस्पष्ट प्रकाशभावको प्राप्त होती हुई जड परमाणुओंमें प्रत्यक्षप्रामाण्यबोधक जीवत्व उत्पन्न करती है ॥२९-३०॥ हे महर्षिगण ! उद्भिज्जयोनिमें वह चिज्जड़ग्रन्थिरूपिणी चेतनसत्ता क्रमविकाशको प्राप्त करती हुई स्वेदजयोनिमें पहुंचती है स्वेदजयोनिसे अण्डज योनिमें पहुंचती है, अण्डजयोनिसे जरायुजयोनिमें पहुंचती है और जरायुजयोनिसे मनुष्ययोनिमें पहुंचती है और वहां सत्त्वगुणकी पूर्णताके आश्रयसे मेरी विद्या-

कृपां विद्यास्वरूपायाः प्राप्ता स्वं रूपमश्नुते ॥ ३३ ॥

एतद्वो वर्णितं विज्ञाः ! रहस्यं गूढमद्भुतम् ।
उत्पत्तेरपि मोक्षस्य जीवानां नु महर्षयः ! ॥ ३४ ॥

वर्त्तते गुप्तमेतद्धि सर्वासूपनिषत्स्वपि ।
न प्राप्तुं कोऽपि शक्नोति श्रीगुरोः कृपया विना॥ ३५ ॥

अघटनघटनायां या प्रकृतिर्मे पटीयसी ।
सास्त्यविद्यास्वरूपेण जीवबन्धनकारिणी ॥ ३६ ॥

पुनः सत्त्वमयी सैव विद्यारूपस्य धारिणी ।
ददाति जीववर्गेभ्यः कैवल्यपदमुत्तमम् ॥ ३७ ॥

नोपासतेऽथ ये जीवा विद्यां स्वाधीनतां गताः ।
ते जीवा निश्चितं विप्राः ! अविद्याच्छन्नमानसाः ॥ ३८ ॥

त्रैगुण्यपरिणामस्य चक्रेऽस्मिञ्छाश्वतीः समाः ।
तापत्रयं सुभुञ्जाना नितरां प्रभ्रमन्त्यहो ॥ ३९ ॥

रूपिणी प्रकृतिकी कृपाप्राप्त होकर स्वस्वरूपको प्राप्त होजाती है ॥ ३१-३३ ॥ हे विज्ञमहर्षियो ! यह जीवोंकी उत्पत्ति और मुक्तिका अद्भुत और गूढ़ रहस्य मैंने आपलोगोंसे वर्णन किया ॥ ३४ ॥ यह सब उपनिषदोंमें भी गुप्तही है, श्रीगुरुकी कृपा विना कोईभी इसको प्राप्त नहीं कर सक्ता ॥ ३५ ॥ अघटनघटनापटीयसी मेरी प्रकृति अविद्यारूप से जीवका बन्धन करती है और पुनः वही सत्त्वमयी बनकर विद्यारूप धारण करके जीवोंको उत्तम कैवल्यपद प्रदान करती है ॥ ३६-३७ ॥ और जो जीव स्वाधीनताको प्राप्त करके विद्याकी उपासना नहीं करते हैं हे ब्राह्मणो ! अविद्यासे आच्छन्नचित्त वे जीव निश्चय इस त्रिगुण परिणामके चक्रमें अनन्तकाल पर्य्यन्त त्रितापको भोग करते हुए अहो ! निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं

विशिष्टैर्लक्षणैः सत्ताऽनुभूतिं ब्रह्मजीवयोः ।
मायाप्रपञ्चरूपायाः सृष्टेश्चैव द्विजर्षभाः ! ॥ ४० ॥
रहस्यं वर्णयाम्येतत् सावधानैर्निशम्यताम् ।
येन सम्यग्भवेज्ज्ञानं भवतां ब्रह्मजीवयोः ॥ ४१ ॥
कारणस्थूलसूक्ष्मेभ्यः शरीरेभ्यो [illegible]म् ।
अतीतं पञ्चकोशेभ्यो ह्यवस्थात्रयसाक्षिकम् ॥ ४२ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानां यदाधारस्वरूपकम् ।
द्वाभ्यां प्रतीयमानाभ्यां मायाऽविद्यास्वरूपिणा ॥ ४३ ॥
उपाधिनेशजीवाभ्यां भिन्नं यच्च महर्षयः ! ।
सच्चिदानन्दरूपं तद्ब्रह्म सम्प्रोच्यते बुधैः ॥ ४४ ॥
एतानि लक्षणानीह वर्णयामि यथाक्रमम् ।
साम्प्रतं सावधानैश्च श्रूयन्तां तत्त्ववेदिनः ! ॥ ४५ ॥
पञ्चभिर्यन्महाभूतैः कृतं पञ्चीकृतैर्ननु ।
सुखदुःखादिभोगानां स्थानं विप्राश्च कर्मजम् ॥ ४६ ॥

॥ ३८–३९ ॥ हे द्विजवरो ! विशेष लक्षणद्वारा जीव और ब्रह्मकी सत्ताका अनुभव और मायाप्रपञ्चरूपी सृष्टिका रहस्य आपसे में वर्णन करता हूं सावधान होकर सुनो जिससे आपलोगोंको ब्रह्म और जीवका सम्यक् ज्ञान होगा ॥ ४०–४१ ॥ हे महर्षिगण ! स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरसे जो पृथक् हैं, पञ्चकोषोंसे जो अतीत हैं, तीनों अवस्थाओंके जो साक्षीरूप हैं, चतुर्विंशति तत्त्वोंके जो आधार हैं और अविद्या तथा मायारूप उपाधियोंके द्वारा प्रतीयमान जो जीव और ईश्वर इन दोनोंसे जो भिन्न हैं वही सच्चिदानन्दस्वरूपवान् ब्रह्म हैं ऐसा बुधगण कहते हैं ॥ ४२–४४ ॥ हे तत्त्वज्ञानियो ! अब मैं यहां इन सब लक्षणोंका यथाक्रम वर्णन करता हूं सावधान होकर सुनो ॥ ४५ ॥ हे विप्रो ! पञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंसे बना हुआ, कर्म्मोंसे उत्पन्न और सुखदुःखादि भोगोंका जो स्थान है अर्थात् जिसके द्वारा

जायते वर्द्धतेऽस्त्येवं क्षीयते परिणम्यते ।
विनश्यतीति षड्भावविकारैश्च समन्वितम् ॥ ४७ ॥
स्थूलं हि तच्छरीरं स्यात्सर्वथा क्षणभङ्गुरम् ।
लक्षणं स्थूलकायस्य वित्तैतद्विशदं द्विजाः ! ॥ ४८ ॥
यदपञ्चीकृतैः पञ्चमहाभूतैः कृतं किल ।
कर्मजं सुखदुःखादिभोगसाधनरूपकम् ॥ ४९ ॥
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्विप्राः ! पञ्चकर्म्मेन्द्रियैस्तथा ।
पञ्चप्राणैस्तथैकेन मनसा बुद्धिसंजुषा ॥ ५० ॥
यत्सप्तदशभिश्चैवं कलाभिः सह तिष्ठति ।
तद्धि सूक्ष्मं शरीरं स्यात्सूक्ष्मतत्त्वविनिर्मितम् ॥ ५१ ॥
विज्ञाः ! यदस्त्यनिर्वाच्याऽनाद्यविद्यास्वरूपकम् ।
कारणं ह्येकमात्रञ्च स्थूलसूक्ष्मशरीरयोः ॥ ५२ ॥
स्वस्वरूपाज्ञानरूपं निर्विकल्पकरूपकम् ।
तत्कारणशरीरं स्याज्जीवत्वप्रतिपादकम् ॥ ५३ ॥

सुखदुःखादि भोग होते हैं एवं वर्त्तमान हैं उत्पन्न होता है, बढ़ता है, परिणामको प्राप्त होता है, क्षय होता है और नाश होता है, इन छः भाव विकारोंसे जो युक्त है, वह सर्वथा क्षणभङ्गुर स्थूल शरीर है हे ब्राह्मणो ! इसको स्थूल शरीरका स्पष्टलक्षण जानो ॥४७–४८॥ हे विप्रो ! अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंसे ही बना हुआ, कर्म्मोंसे उत्पन्न और सुखदुःखादि भोगोंका जो साधनरूप है एवं पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्म्मेन्द्रिय, पांच वायु, एक मन, एक बुद्धि, इस प्रकार सत्रह कलाओंसे युक्त होकर जो स्थित है वह सूक्ष्म तत्त्वोंसे बना हुआ सूक्ष्म शरीर है ॥ ४९–५१ ॥ हे विज्ञो ! अनिर्व्वचनीया अनादि अविद्यारूप, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका एक मात्र ही कारण, अपने स्वरूप का अज्ञानस्वरूप एवं निर्विकल्प रूप जो है वही

जीवानादिप्रवाहस्य जीवसृष्टेः पृथक् पृथक् ।
या प्रारम्भक्षणे विप्राः ! चिज्जड़ग्रन्थिबान्धिनी ॥ ५४ ॥
जायते प्रथमावस्था तच्छरीरं हि कारणम् ।
संस्कारः सूक्ष्मदेहस्याऽनुक्षणं परिवर्त्तते ॥ ५५ ॥
ध्रियन्तेऽतो ध्रुवं जीवैः स्वसंस्कारानुसारतः ।
नानाविचित्रतोपेताः स्थूलदेहाः पृथक् पृथक् ॥ ५६॥
परन्त्वनाद्यविद्यैकमूलिका सर्वथा द्विजाः ! ।
या शरीरद्वयस्यापि मूलकारणरूपिणी ॥ ५७ ॥
दशा विकारहीनाऽस्ति चिदात्मावरणक्षमा ।
तत्कारणशरीरम्वा ब्रुवन्ति तद्विदो जनाः ॥ ५८ ॥
विप्राः ! अन्नमयः प्राणमय एवं मनोमयः ।
द्वौ विज्ञानमयानन्दमयौ कोशौ तथैव च ॥ ५९ ॥
कोशपञ्चकमेवैतदात्मावरणकारकम् ।
विद्यते नितरां विज्ञाः ! नात्र कोप्यस्ति संशयः ॥ ६० ॥

जीवत्वप्रतिपादक कारण शरीर है ॥ ५२-५३ ॥ अनादि जीव-प्रवाहकी अलग अलग जीव सृष्टिके प्रारम्भमें जड़ और चेतनकी ग्रन्थि बांधनेवाली जो प्रथम दशा पैदा होती है वही जीवका कारण शरीर है । सूक्ष्म शरीरके संस्कारोंमें प्रतिक्षण परिवर्त्तन होता रहता है और इसी कारण जीवोंको अपने अपने संस्कारोंके अनुसार अलग अलग नाना विचित्रतामय स्थूल शरीर अवश्य धारण करने पड़ते हैं ॥ ५४-५६ ॥ परन्तु हे विप्रो ! सर्व्वथा अनादि अविद्या-मूलिका और दो शरीरोंकी मूलकारणरूपा एवं चिदात्माको ढकने-वाली और विकारहीन जो दशा है विद्वान्‌लोग उसको कारणशरीर कहते हैं ॥ ५७-५८ ॥ हे विज्ञविप्रो ! आत्माको अत्यन्त आवरण करनेवाले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये ही पांच कोष हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ५९-६० ॥

आच्छादनं तथा त्वक् च विप्राः! आवरणादयः।
कोशशब्देन गृह्यन्ते ये चान्ये वा तदर्थकाः॥ ६१॥
एकामुपर्य्युपर्य्येका पलाण्डुत्वग्यथा भवेत्।
पञ्च कोशास्तथा ज्ञेया जीवदेहेषु निश्चितम्॥ ६२॥
स्यादानन्दमयः कोशः प्रथमं तदनन्तरम्।
विज्ञानमयनामास्ति तत्परश्च मनोमयः॥ ६३॥
ततः प्राणमयः कोशो वर्त्तते विप्रपुङ्गवाः!।
सर्व्वोपर्य्यस्ति कोशस्तु नूनमन्नमयाभिधः॥ ६४॥
जायतेऽन्नरसादेव यस्तेनैवाभिवर्द्धते।
यश्चाऽन्नरसमय्यां हि क्षित्यामन्ते विलीयते॥ ६५॥
एषोऽस्त्यन्नमयः कोषः स्थूलदेहापराभिधः।
लक्षणं सूक्ष्मदेहस्य श्रूयतां मुनिपुङ्गवाः!॥ ६६॥
स्यान्मनःप्राणविज्ञानमयैः कोशैर्महर्षयः!।
सूक्ष्मं शरीरं वै विप्रा इत्याहुर्वेदपारगाः॥ ६७॥

हे विप्रो! कोशशब्दसे आच्छादन छिलका आवरण आदि और तदर्थक अन्य शब्द भी समझने चाहिये॥ ६१॥ जैसे प्याजमें एकके ऊपर दूसरा छिलका रहता है उसी प्रकार जीवशरीरोंमें पाँच कोश समझने ही उचित हैं॥ ६२॥ हे विप्रवरो! प्रथम आनन्दमय कोश होता है, उसके ऊपर विज्ञानमय कोश होता है, उसके ऊपर मनोमय कोश होता है, उसके ऊपर प्राणमय कोश होता है और इन सबोंके ऊपर ही अन्नमय कोश होता है॥ ६३-६४॥ अन्नके रससे ही उत्पन्न होकर, अन्नके रससे ही उन्नति (वृद्धि) को प्राप्त होकर और अन्नकी रसरूपा पृथिवीमें ही जो अन्तमें लयको प्राप्त होता है वह अन्नमय कोश है, इसीको स्थूलशरीर कहते हैं। हे मुनिवरो! सूक्ष्मदेहका लक्षण सुनिये॥ ६५-६६॥ हे महर्षिगण! प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोशोंका ही सूक्ष्म-

मिलिताः पञ्च प्राणाश्च पञ्चकर्म्मेन्द्रियैः सह ।
ध्रुवं प्राणमयः कोश इत्याख्यामाप्नुवन्त्यहो ॥ ६८ ॥
एकमेव मनः पञ्चज्ञानेन्द्रियसमन्वितम् ।
नाम्ना मनोमयः कोशो नूनमाख्यायते बुधैः ॥ ६९ ॥
एकैव मिलिता बुद्धिः पञ्चज्ञानेन्द्रियैः सह ।
विज्ञानमयकोशाख्यां भजते नात्र संशयः ॥ ७० ॥
कारणाख्यवपुर्भूताऽविद्यायां नन्ववस्थितम् ।
सत्त्वं मालिन्यसञ्जुष्टं स्वरूपाज्ञानमेव हि ॥ ७१ ॥
प्रियमोदप्रमोदैर्वै भावैरेभिर्युतश्च सत् ।
आनन्दमयनामाऽसौ कोशः सम्प्रोच्यते बुधैः ॥ ७२ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानां यतोऽस्त्येतद्धि कारणम् ।
अतस्तदेव सम्प्रोक्तं शरीरं कारणाभिधम् ॥ ७३ ॥
एभिश्च पञ्चभिः कोषैः सम्बद्धमधुना मया ।
श्रूयतां प्रोच्यमानं तदवस्थात्रयलक्षणम् ॥ ७४ ॥

शरीर होता है ऐसा वेदपारगामी ब्राह्मणगण कहते हैं ॥ ६७ ॥ प्राणादि पाँच वायु कर्म्मेन्द्रियोंके साथ मिल करही अहो ! प्राणमय कोश इस नामको प्राप्त होते हैं ॥६८॥ एक ही मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे मिलकर ही मनोमय कोश नामसे विद्वानों के द्वारा कहाजाता है ॥६९॥ एक ही बुद्धि पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके साथ मिलकर विज्ञानमय कोश नामको धारण करती है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७० ॥ हे ब्राह्मणो ! कारणशरीरभूता अविद्यामें ही स्थित, मलिन सत्त्व, आत्मस्वरूपका ही अज्ञानरूप और प्रिय मोद और प्रमोद इन भावोंसे ही युक्त आनन्दमय कोश विद्वानोंके द्वारा कहा जाता है ॥ ७१–७२ ॥ और वही कारण शरीर कहा गया है क्योंकि वही चौबीस तत्त्वोंका कारण है ॥ ७३ ॥ अब इन पांचों कोषोंसे सम्बन्धयुक्त तीन अव-

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यमवस्थात्रयमस्त्यहो ।
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्यत्र श्रोत्रप्रभृतिभिर्द्विजाः ! ॥ ७५ ॥
शब्दादिविषयाः सम्यग्ज्ञायन्ते जाग्रदस्ति सा ।
स्थूलदेहाभिमान्यात्मा विश्व इत्युच्यते बुधैः ॥ ७६ ॥
यत्र जाग्रदवस्थायां यच्च दृष्टं श्रुतञ्च यत् ।
तज्जन्यैर्वासनापुञ्जैः प्रपञ्चः सम्प्रतीयते ॥ ७७ ॥
स्वप्नावस्थाऽस्ति सा जाग्रत्सुषुप्त्यन्तरवर्त्तिनी ।
सूक्ष्मदेहाभिमान्यात्मा प्रोच्यते तैजसाभिधः ॥ ७८ ॥
न मया किमपि ज्ञातं सुखं निद्राऽन्वभावि च ।
इति जाग्रदवस्थायामनुभूतिस्मृतिर्हि या ॥ ७९ ॥
सा सुषुप्त्यभिधावस्था कीर्त्यते तत्त्वकोविदैः ।
आत्मा कारणदेहस्याभिमानी प्राज्ञ उच्यते ॥ ८० ॥
समष्टिः स्थूलदेहानां विराण्नाम्नाऽभिधीयते ।
अतः स्थूलशरीरस्याधिदेवो विश्वनामकः ॥ ८१ ॥

स्थाओंका लक्षण मैं वर्णन करता हूँ सुनो ॥ ७४ ॥ जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति अवस्था नामक अहो ! ये तीन अवस्थाएँ हैं हे ब्राह्मणो ! श्रोत्रादि पञ्चज्ञानेन्द्रियोंसे शब्दादि विषय जहाँ भलीभांति जाने जाते हैं वह जाग्रदवस्था है। विद्वानोंके द्वारा स्थूल शरीरका अभिमानी आत्मा विश्व कहा जाता है ॥७५-७६॥ जाग्रदवस्थामें जो देखनेमें और सुननेमें आता है उससे उत्पन्न वासनासमूहके द्वारा जिस अवस्थामें प्रपञ्च प्रतीत होता है जाग्रत् और सुषुप्तिके मध्यवर्त्तिनी वह अवस्था स्वप्नावस्था है। सूक्ष्मशरीरका अभिमानी आत्मा तैजस कहाजाता है ॥ ७७-७८ ॥ मैं कुछ भी नहीं जानता था, सुखपूर्वक मैंने निद्रा ली इस प्रकारका अनुभव जाग्रदवस्थामें जो याद दिलाती है उसको तत्त्वज्ञानी सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। कारण शरीरका अभिमानी आत्मा प्राज्ञ कहाजाता है ॥ ७९-८० ॥ समष्टि स्थूल-

सूक्ष्मराज्यस्थदेवानां सूक्ष्मदेहावलम्बिनाम् ।
तेजोमयं शरीरं स्याद्यतो नूनं महर्षयः ! ॥ ८२ ॥
सूक्ष्मदेहाभिमान्यस्ति देवोऽतस्तैजसाभिधः ।
सूक्ष्माद्यतोऽतिसूक्ष्मम्वै शरीरं कारणं ततः ॥ ८३ ॥
देवः कारणदेहस्याभिमानी प्राज्ञ उच्यते ।
चतुर्विंशतितत्त्वानि वर्णयामि निशम्यताम् ॥ ८४ ॥
नैकधैतानि नैके नु वर्णयन्ति महर्षयः ।
मतान्तराणां सर्व्वेषां सिद्धान्ते न तु भिन्नता ॥ ८५ ॥
श्रोत्रत्वचौ तथा चक्षूरसना घ्राणमेव च ।
पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्याहुर्विज्ञा वेदान्तपारगाः ॥ ८६ ॥
वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि द्विजसत्तमाः ! ।
पञ्च कर्म्मेन्द्रियाण्याहुस्तत्त्वान्वेषणतत्पराः ॥ ८७ ॥
प्राणापानौ समानश्चोदानव्यानौ तथैव च ।
प्राणाः पञ्च समाख्याताः प्राणतत्त्वानुचिन्तकैः ॥ ८८ ॥

शरीरको ही विराट् कहते हैं इस कारण स्थूलशरीरके देवता विश्व कहाते हैं ॥ ८१ ॥ हे महर्षिगण ! सूक्ष्मराज्यके सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट देवताओंका शरीर तेजोमय ही होता है इस कारण सूक्ष्म शरीरके अभिमानी देवता तैजस हैं। कारणशरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही है इस कारण उसके अभिमानी देवता प्राज्ञ कहाते हैं। चौबीस तत्त्वोंका वर्णन करता हूं सुनो ॥ ८२-८४ ॥ हे महर्षिगण ! इन चौबीस तत्त्वोंको कोई किसी प्रकारसे वर्णन करता है, कोई किसी प्रकारसे; परन्तु ये सब मतान्तर मूल सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं हैं ॥ ८५ ॥ श्रोत्र त्वक् चक्षु रसना और घ्राण, इनको वेदान्तपारगामी विज्ञगण पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥ ८६ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठो ! वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ, इनको तत्त्वान्वेषिगण पञ्च कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ८७ ॥ प्राण अपान समान उदान और व्यान इनको प्राणतत्त्वानुचिन्तक पञ्च

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्वशरीरगः ॥ ८९ ॥
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धस्तथैव च ।
तन्मात्राण्यपि पञ्चैव ब्रुवते तद्विदो जनाः ॥ ९० ॥
मनो बुद्धिस्तथा चित्तमहङ्कारस्तथैव च ।
अन्तःकरणभेदाः स्युश्चत्वारो नात्र संशयः ॥ ९१ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि सन्त्येतान्येव सत्तमाः ! ।
पञ्चविंशतमं तत्त्वमहमेवास्म्यसंशयम् ॥ ९२ ॥
विप्राः ! पुरुषरूपेण नैव कार्य्योऽत्र विस्मयः ।
तत्त्वातीतं परं तत्त्वं तत्त्वज्ञा मां ब्रुवन्त्यतः ॥ ९३ ॥
विषया इन्द्रियाणाञ्च वर्ण्यन्तेऽतः परं मया ।
समाहितैर्भवद्भिस्ते श्रूयन्तां विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ९४ ॥
श्रोत्रस्य विषयः शब्दस्त्वचः स्पर्शस्तथैव च ।
चक्षुषो रूपमेवास्ति रसनाया रसस्तथा ॥ ९५ ॥

प्राण कहते हैं ॥८८॥ प्राण वायु हृदयमें रहता है। अपान वायु गुदामें स्थित है। समान वायु नाभिमें है। उदान वायु कण्ठमें अवस्थित है और व्यान वायु सर्व शरीरमें रहा करता है ॥ ८९ ॥ ज्ञानीगण शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इनको पाँच तन्मात्रा कहते हैं ॥ ९० ॥ मन बुद्धि चित्त और अहङ्काररूपसे अन्तःकरणके चार भेद हैं इसमें सन्देह नहीं ॥९१॥ हे सज्जनो ! ये ही चौबीस तत्त्व हैं। हे ब्राह्मणो ! निःसन्देह मैं ही पुरुष रूपसे पञ्चविंशतितम तत्त्व हूँ इस कारण तत्त्वज्ञानी गण मुझे तत्त्वातीत परमतत्त्व कहते हैं इसमें विस्मय न करो ॥९२-९३॥ अब इन्द्रियोंके विषयोंका वर्णन करता हूँ हे विप्रवरो ! आपलोग समाहित होकर उनको सुनें ॥ ९४ ॥ श्रोत्रेन्द्रियका विषय शब्द है, त्वगिन्द्रियका विषय स्पर्श है, चक्षुरिन्द्रियका विषय रूप ही है, रसनेन्द्रियका विषय रस है और घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध

घ्राणस्य विषयो गन्धो विद्यते नात्र संशयः ।
वचनं स्याद्वाग्विषयः पाण्योरादानमेव च ॥ ९६ ॥
गमनं पादयोः पायोर्मलोत्सर्गश्च विद्यते ।
मूत्रत्याग उपस्थस्य विषयोऽस्ति महर्षयः ! ॥ ९७ ॥
गुह्यमेकं रहस्यं वो ब्राह्मणाः ! वर्णयाम्यहम् ।
यदिन्द्रियद्वयस्याथ श्रूयतां तत्समाहितैः ॥ ९८ ॥
जिह्वायां वाग्रसादानैतच्छक्तिद्वययोगतः ।
अत्यन्तमेव जिह्वाऽसौ प्रबला विद्यते खलु ॥ ९९ ॥
शिश्नयोन्योस्तथैवास्ते नृनारीचिह्नयोरपि ।
मूत्रत्यागात्मकः कर्म्मेन्द्रियस्य विषयो ननु ॥ १०० ॥
अत्यन्तप्रबलस्पर्शसुखं ज्ञानेन्द्रियस्य च ।
तयोः प्राबल्यमेवातः प्रसिद्धं सर्वथास्त्यलम् ॥ १०१ ॥
सङ्कल्पो निश्चयो नूनं स्मरणं गर्व्व एव च ।
नन्वन्तःकरणस्यैते विषयाः स्युर्यथाक्रमम् ॥ १०२ ॥
कथ्यन्ते साम्प्रतं विज्ञाः ! देवास्तत्त्वाभिमानिनः ।

है इसमें सन्देह नहीं । वागिन्द्रियका विषय वक्तव्य है, पाणीन्द्रियका विषय वस्तु ग्रहण है, पादेन्द्रियका विषय गन्तव्य है, गुदेन्द्रियका विषय मलत्याग है और हे महर्षिगण ! उपस्थेन्द्रियका विषय मूत्र-त्याग है ॥ ९५-९७ ॥ हे ब्राह्मणो ! मैं दो इन्द्रियोंका एक गुह्य रहस्य आपलोगोंसे कहता हूँ, समाहित होकर सुनो ॥ ९८ ॥ जिह्वामें रसग्रहण और वाक्शक्ति दोनों होनेसे वह अत्यन्त ही प्रबल है ॥ ९९ ॥ उसी प्रकार पुरुषचिह्न और स्त्रीचिह्नरूपी उपस्थ और योनिमें भी मूत्रत्यागरूपी कर्म्मेन्द्रियका कार्य और अतिप्रबल स्पर्शसुखरूपी ज्ञानेन्द्रियका कार्य्य रहनेसे उनकी प्रबलता ही सर्वथा प्रसिद्ध है ॥ १००-१०१ ॥ अन्तःकरणचतुष्टय (चारों अन्तःकरणके) संकल्प करना, निश्चय करना, स्मरण करना और अहङ्कार करना यथाक्रम ये चार विषय हैं ॥१०२॥ हे विज्ञमहर्षियो ! अब तत्त्वोंके अभिमानका

निशम्यन्तां भवद्भिश्च दत्तचित्तैर्महर्षयः ! ॥ १०३ ॥
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवन्हीन्द्रोपेन्द्रमृत्सवः ।
शिवश्चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वराः ॥ १०४ ॥
श्रोत्रस्य हि दिशो देवास्त्वचो वायुर्न संशयः ।
सूर्य्योऽस्ति चक्षुषो देवो वरुणो रसनाधिपः ॥ १०५ ॥
घ्राणस्याप्यश्विनौ देवौ वह्निर्वाचो न संशयः ।
इन्द्रः पाणीन्द्रियस्यास्ति ह्युपेन्द्रः पादयोस्तथा ॥ १०६ ॥
मृत्युर्गुदेन्द्रियस्यास्त उपस्थस्य शिवस्तथा ।
रसना-योन्युपस्थेषु द्विधा शक्तिरवस्थिता ॥ १०७ ॥
तेषाम्प्रत्येकमेवातो द्वौ देवौ भवतो ध्रुवम् ।
वरुणाग्निद्वयस्यास्ति रसना पीठरूपिणी ॥ १०८ ॥
प्रजापतिस्तथा वायुः शिवश्चैव महर्षयः ! ।
पीठस्थानं त्रिदेवानामुक्तानां योनिशिश्नयोः ॥ १०९ ॥
अस्त्यतः सृष्टिकार्येषु लिङ्गयोन्योः प्रधानता ।

धारण करनेवाले अधिपति कहे जाते हैं सो दत्तचित्त होकर आपलोग सुनें ॥ १०३ ॥ दिक्, वायु, अर्क, प्रचेता, अश्वि, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु, शिव, चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र, और क्षेत्रज्ञ ये सब अधिपति हैं ॥ १०४ ॥ श्रोत्रेन्द्रियकी देवता दिशाएँ हैं, त्वगिन्द्रियकी देवता वायु ही है, चक्षुरिन्द्रियकी देवता सूर्य्य है, रसनेन्द्रियकी देवता वरुण है ॥ १०५ ॥ घ्राणेन्द्रियकी देवता दोनों अश्विनी कुमार हैं, वागिन्द्रियकी देवता अग्नि ही है, पाणीन्द्रियकी देवता इन्द्र है, पादेन्द्रियकी देवता उपेन्द्र है ॥ १०६ ॥ गुदेन्द्रियकी देवता मृत्यु है, उपस्थेन्द्रियकी देवता शिव है। रसना और उपस्थादिकमें द्विविध शक्ति निहित रहनेसे उनके प्रत्येकके ही दो दो देवता हुी हैं। रसना वरुण और अग्निकी पीठरूपिणी है ॥ ॥ १०७-१०८ ॥ हे महर्षियो ! उपस्थ और योनिमें शिव, वायु और प्रजापतिका पीठ विद्यमान है इसी कारण सृष्टि कार्य्य में लिङ्ग और योनिकी

नात्र कश्चन सन्देहः कर्त्तव्यो विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ११० ॥
चन्द्रमा मनसो देवो बुद्धेश्च चतुराननः ।
चित्तस्य देवः क्षेत्रज्ञो रुद्रश्चाहङ्कृतेर्ध्रुवम् ॥ १११ ॥
विज्ञाः ! उपनिषज्ज्ञानमन्तःकरणगोचरम् ।
किञ्चिद्वो वर्णयाम्यत्र दत्तचित्तैर्निशम्यताम् ॥ ११२ ॥
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चतुर्थं चित्तमेव च ।
एतच्चतुष्टयं ज्ञेयमन्तःकरणसंज्ञकम् ॥ ११३ ॥
एतच्चतुष्टयस्यैव ब्रह्मैव केवलं किल ।
विद्यतेऽधिपतिर्देव एक एव न संशयः ॥ ११४ ॥
अतोऽसौ गीयते लोके सर्वथा चतुराननः ।
अत्रापि कारणं वित्त बुद्धेः प्राधान्यमेव ह ॥ ११५ ॥
माययोपहितं ब्रह्म विज्ञैरीश्वर उच्यते ।
अविद्योपहितं ब्रह्म जीवः सम्प्रोच्यते तथा ॥ ११६ ॥
अविद्यामाययोर्विप्राः ! वेदे वर्णितयोः सदा ।

प्रधानता है, हे विप्रवरो ! इसमें कुछ सन्देह न करो ॥ १०९-११० ॥ मनकी देवता चन्द्रमा, बुद्धिकी देवता चतुर्वक्त्र, अहङ्कारकी देवता रुद्र और चित्त की देवता क्षेत्रज्ञ है ॥ १११ ॥ हे विज्ञो ! यहां मैं अन्तःकरणके विषयमें कुछ उपनिषद्का ज्ञान आपसे कहता हूं दत्तचित्त होकर सुनो ॥ ११२ ॥ मन बुद्धि अहंकार और चतुर्थ चित्त, इन चारों को अन्तःकरण समझना चाहिये ॥ ११३ ॥ केवल ब्रह्मा ही इस अन्तःकरणचतुष्टयके ही अधिदैव हैं और इसी कारण वे संसारमें चतुर्वक्त्र कहे ही जाते हैं । यहां चारोंमें बुद्धिका प्राधान्य ही कारण जानो ॥ ११४-११५ ॥ मायारूप उपाधिसे युक्त ब्रह्मको विज्ञलोग ईश्वर कहते हैं और अविद्यारूप उपाधिसे युक्त ब्रह्म जीव कहाजाता है ॥ ११६ ॥ हे ब्राह्मणो ! वेदमें वर्णित इन अविद्या और

व्योमपातालवद्भेद एतयोः संप्रतीयते ॥ ११७ ॥
विज्ञानश्चात्र वो वच्मि पार्थक्यानुगतं तयोः ।
अविद्या हि सदा जीवान्निजायत्तान् प्रकुर्वती ॥ ११८ ॥
बद्ध्वाऽऽसज्जायते स्वस्यां महामाया परन्त्वहो ।
विद्यास्वरूपिणी भूत्वा सर्वदेश्वरसात्सती ॥ ११९ ॥
तमेव सेवमाना च जगत्सृष्टिलयस्थितीः ।
आस्ते सा विदधानाऽतः पार्थक्यं विपुलं तयोः ॥ १२० ॥
शरीरं मे च मे प्राणा मनो मे धीश्च मेऽस्ति मे ।
ज्ञानमित्थं प्रतीयन्ते पञ्च कोशाः पृथक् पृथक् ॥ १२१ ॥
यथा स्वत्वेन विज्ञातमलङ्कारगृहादिकम् ।
स्वस्माद्भिन्नं वरीवर्त्ति पञ्च कोशास्तथा द्विजाः ॥ १२२ ॥
मदीयत्वेन विज्ञाता नैवात्मा स्यात् कदाचन ।
किन्त्वात्मा पञ्चकोषाणां ज्ञातैव भवति ध्रुवम् ॥ १२३ ॥

मायामें आकाश पातालके समान सदा भेद प्रतीत होता है ॥११७॥ उन दोनोंका पार्थक्य सम्बन्धी विज्ञान यहां आपलोगोंसे कहता हूँ। अविद्या जीवोंको सदा अपने अधीन करती हुई अपने में उनको बांधकर फसालेती है किन्तु, अहो महामाया विद्यास्वरूपिणी होकर सर्व्वदा ईश्वर के अधीन रहती हुई और उनकी ही सेवा करती हुई जगत् के सृष्टिस्थितिलय करती रहती है इसलिये इन दोनों में बड़ा अन्तर है ॥ ११८-१२० ॥ मेरा शरीर है मेरे प्राण हैं मेरा मन है मेरी बुद्धि है और मेरा ज्ञान है इस प्रकार से पृथक् पृथक्रूपसे पाँचों कोशोंकी प्रतीति होती है ॥ १२१ ॥ हेविप्रो ! जैसे "हमारे" हैं इस प्रकार जानेहुए अलङ्कार और घर आदि अपनेसे भिन्न होते हैं वैसे ही पञ्चकोश, हमारे हैं इस प्रकार जाननेके कारण आत्मा कभी नहीं होसक्ते हैं अर्थात् पञ्चकोश आत्मा नहीं हैं किन्तु पञ्चकोषोंके जाननेवाले निश्चयही

कारणस्थूलसूक्ष्माणि शरीराण्येवमेव च ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यमवस्थात्रयमेव हि ॥ १२४ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि पूर्व्वमुक्तानि यानि वै ।
जीवेश्वरौ द्विजाः ! एते आत्मा नैव कदाचन ॥ १२५ ॥
तत्त्वज्ञानाश्रयादित्थं नेति नेति विचारतः ।
सर्व्वं स्थूलं सजन्तोऽलं सूक्ष्मान्वेषणतत्पराः ॥ १२६ ॥
भवेयुश्चेन्निरासक्तास्तत्त्वातीतं पदं गताः ।
तदा मां सर्वदा तत्र भवन्तो द्रष्टुमीशते ॥ १२७ ॥
अतीतः सर्वतत्त्वेभ्यः तथैव पञ्चकोषतः ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहमिति जानीत निश्चितम् ॥ १२८

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे धीशर्षिसम्वादे वेदान्तनिरूपणं
नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

आत्मा हैं ॥ १२२-१२३ ॥ इसी रीति से ही हे विप्रो ! स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर, जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था सुषुप्ति अवस्था ये तीनों अवस्थाएँ, पूर्वोक्त चौबीस तत्त्व, जीव और ईश्वर, ये कभी आत्मा नहीं ही होसक्ते हैं ॥ १२४-१२५ ॥ इस प्रकार तत्त्वज्ञान की सहायता से यदि आपलोग नेति नेति विचारद्वारा सब स्थूलको छोड़ते हुए सूक्ष्मके अन्वेषणमें तत्पर होकर निरासक्त होंगे तो सर्व्वदा तत्त्वातीत पदमें स्थित होकर वहां मेरे दर्शनको प्राप्त कर सकोगे ॥ १२६-१२७ ॥ मैं पञ्चकोषोंसे परे और सब तत्वोंसे अतीत सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ यह निश्चय करके जानना ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद्में ब्रह्मविद्यासम्बन्धी
योगशास्त्रका धीशर्षिसम्वादात्मक वेदान्तनिरूपण
नामका पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ।

षष्ठम अध्याय

वेदान्तसिद्धान्तनिरूणम् ।

—∞—
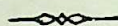
श्रीगणपतिरुवाच ॥ १ ॥

मत्प्रकृत्यैव जातस्य ब्रह्मणः कार्य्यरूपिणः ।
स्वरूपं वर्णितं विप्राः ! भवद्भिश्च श्रुतं खलु ॥ २ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वैर्हि पिण्डब्रह्माण्डरूपकम् ।
दृश्यमानं जगज्जातं सर्व्वमेतच्चराचरम् ॥ ३ ॥
पञ्चकोषाश्च पिण्डानि व्याप्नुवन्तो महर्षयः ! ।
आवृण्वन्तोऽवतिष्ठन्ते मत्स्वरूपं न संशयः ॥ ४ ॥
तत्त्वज्ञैः सर्वपिण्डेषु पञ्चकोशसमन्वयम् ।
ज्ञात्वा सर्वत्र मच्छक्तेस्त्वेकत्वमनुभूयते ॥ ५ ॥
ममैव प्रकृतिर्विज्ञाः ! मायानाम्नाऽभिधीयते ।
नूनं त्रैगुण्यमय्येषा भवन्ती परिणामिनी ॥ ६ ॥

गणपति बोले ॥ १ ॥

हे ब्राह्मणो ! मेरी प्रकृतिसे ही उत्पन्न कार्य्यब्रह्मका स्वरूप मैंने वर्णन किया है और आपलोगोंने सुना भी है ॥ २ ॥ चतुर्विंशति तत्त्वोंसे ही ब्रह्माण्डपिण्डात्मक ये सब चराचर जगत्समूह दृश्यमान है ॥ ३ ॥ और हे महर्षिगण ! पञ्चकोष सब पिण्डोंमें व्याप्त होकर मेरे स्वरूपको निःसन्देह ढके हुए हैं ॥ ४ ॥ परन्तु तत्त्वज्ञानी सब पिण्डोंमें पञ्चकोषका समन्वय जानकर सब स्थानोंमें मेरी शक्तिकी अद्वैतता अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥ हे विज्ञो ! मेरी प्रकृति ही मायानामसे अभिहित होती है । हे विप्रो ! यही त्रिगुणा-

कुर्वत्यास्ते सदा विप्राः ! दृश्यसृष्टिलयस्थितीः ।
सृष्टिकाले भवेत्तस्या आकाशः प्रकृतेस्ततः ॥ ७ ॥
आकाशाद्वायुरप्येवं वायोरग्निर्न संशयः ।
अग्नेर्जलं जलात्पृथ्वी जायते ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥ ८ ॥
एतेषां पञ्चतत्त्वानामाकाशस्य भवेत्पुनः ।
सात्त्विकादंशतो नूनमिन्द्रियं श्रोत्रनामकम् ॥ ९ ॥
वायोस्त्वक् सात्त्विकादंशादग्नेश्चक्षुर्भवेत्ततः ।
जलस्य सात्त्विकादंशाद्रसना जायते ध्रुवम् ॥ १० ॥
पृथिव्याः सात्त्विकादंशाद्घ्राणमुत्पद्यते द्विजाः ! ।
एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टेः सात्त्विकांशतः ॥ ११ ॥
मनो बुद्धिरहङ्कारस्तथा चित्तं भवन्त्यहो ।
द्विजोत्तमाः ! मनः कर्त्तृ स्यात्सङ्कल्पविकल्पयोः ॥ १२ ॥
अहङ्कारोऽस्त्यहङ्कर्त्ता बुद्धिर्निश्चयकारिणी ।
चित्तं स्मर्तृ च सर्व्वेषां संस्काराणां यतः खनिः ॥ १३ ॥

त्मिका प्रकृति सदा परिणामिनी होती हुई दृश्यका सृष्टि स्थिति लय करती रहती है। हे विप्रवरो ! सृष्टि करते समय उस प्रकृतिसे आकाश, आकाशसे वायु, वायु से अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न होती है इसमें सन्देह नहीं ॥ ६-८॥ और इन पांच तत्त्वोंमेंसे आकाशके ही सात्त्विक अंशसे श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥ वायुके सात्त्विक अंशसे त्वगिन्द्रिय, अग्निके सात्त्विक अंशसे चक्षुरिन्द्रिय, जलके सात्त्विक अंशसे रसनेन्द्रिय निःसन्देह उत्पन्न होता है ॥१०॥ हेब्राह्मणो!पृथिवीके सात्त्विक अंशसे घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होता है। अहो ! इन पाँचों तत्त्वोंके समष्टि (मिले हुए) सात्त्विक अंशसे मन बुद्धि चित्त और अहङ्कार उत्पन्न होते हैं। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! संकल्प विकल्प करनेवाला मन है, अहङ्कार करनेवाला अहङ्कार है, निश्चय करनेवाली बुद्धि है, स्मरण करनेवाला चित्त है क्योंकि

एतेषु पञ्चतत्त्वेषु ह्याकाशस्य रजोंऽशतः ।
वागिन्द्रियं समुत्पन्नं वायोः पाणीन्द्रियं तथा ॥ १४ ॥
अग्नेराजसिकादंशाज्जायते पाद इन्द्रियम् ।
जलस्य राजसादंशात् स्यादुपस्थेन्द्रियं तथा ॥ १५ ॥
गुदेन्द्रियं पृथिव्यास्तु राजसांशात्प्रजायते ।
एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टे राजसांशतः ॥ १६ ॥
प्राणादयो भवन्त्येते वायवः पञ्चसङ्ख्यकाः ।
कृकरो नागकूर्म्मौ च देवदत्तधनञ्जयौ ॥ १७ ॥
उपवायव एते हि तेष्वेवान्तर्भवन्त्यहो ।
एतेषां पञ्चतत्त्वानां तामसांशसमष्टितः ॥ १८ ॥
पञ्चीकृतानि जायन्ते महाभूतानि पञ्च च ।
स्थूलाक्ष्यगोचरं विप्राः ! सूक्ष्मराज्यं सदा भवेत् ॥ १९ ॥
स्थूलं विश्वं महाभूतैर्जातं पञ्चीकृतैर्यतः ।
सूक्ष्मैः पञ्चमहाभूतैः कथं पञ्चीकृतान्यहो ॥ २० ॥

यह सब संस्कारोंका आकर है ॥ ११-१३ ॥ इन्हीं पाँचों तत्त्वोंमेंसे आकाशके राजस अंशसे वागिन्द्रिय, वायुके राजस अंशसे पाणीन्द्रिय, वह्निके राजस अंशसे पादेन्द्रिय, जलके राजस अंशसे उपस्थेन्द्रिय और पृथिवीके राजस अंशसे गुदेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं । इन पञ्चतत्त्वों के समष्टि (मिले हुए) राजस अंशसे प्राणादि पाँच वायु उत्पन्न होते हैं । अहो ! उपवायु, नाग कूर्म्म कृकर देवदत्त और धनञ्जय भी उक्त पाँच वायुओंके अन्तर्गत ही हैं । इन पाँचों तत्त्वोंके समष्टि (मिले हुए) तामस अंशसे पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं । हे ब्राह्मणो ! सूक्ष्मराज्य स्थूल इन्द्रियोंसे सदा अगोचर है ॥ १४-१९ ॥ क्योंकि स्थूल जगत् पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतसे उत्पन्न है । हे ब्राह्मणो ! सूक्ष्म पञ्च महाभूतोंसे पञ्चीकृत स्थूल पञ्च महाभूत

पञ्च स्थूलानि जायन्ते महाभूतानि भूसुराः ! ।
तत्प्रकारं प्रवक्ष्येऽहं शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ २१ ॥
एतत्पञ्चमहाभूततामसांशस्वरूपकम् ।
एकमेकं द्विधा भूतं विभज्यैकैकमर्द्धकम् ॥ २२ ॥
अवस्थाप्यापरं विज्ञाः ! चतुर्धाऽपरमर्द्धकम् ।
विभज्यैवं पृथक्कृत्वेन स्थापितार्द्धेषु निश्चितम् ॥ २३ ॥
विभागेषु विभक्तस्य चतुर्धा विप्रपुङ्गवाः ! ।
एकैकस्य च भूतार्द्धात्मकस्यैकं किलैककम् ॥ २४ ॥
अंशं कृत्वाऽथ संयुक्तं स्यात्पञ्चीकरणं ध्रुवम् ।
पञ्चीकरणनामायं विधिरत्यन्तमद्भुतः ॥ २५ ॥
स्वार्द्धे प्रत्येकभूतस्यापरेषां मिश्रितो भवेत् ।
भूतानामर्द्धभागस्य चतुर्थांशो न संशयः ॥ २६ ॥
यथा पञ्चीकृताकाशे तस्याऽपञ्चीकृतस्य नु ।
अर्द्धमस्त्यपरेषाञ्च भूतानां हे महर्षयः ! ॥ २७ ॥

कैसे उत्पन्न होते हैं उसका प्रकार मैं कहता हूं समाहित होकर सुनो ॥ २०-२१ ॥ हे विज्ञब्राह्मणोत्तमो ! इन पाँचों महाभूतोंके तामसांशस्वरूप एक एक भूतके दो दो भाग करके और एक एक भागको पृथक् रखकर दूसरे दूसरे भागके चार चार भाग करके पृथक् रक्खे हुए भागोंमें एक एक भाग प्रत्येक भूतका संयुक्त करनेसे निश्चय पञ्चीकरण होता है। यह पञ्चीकरण विधि अत्यन्त अद्भुत है ॥ २२-२५ ॥ प्रत्येक भूतके अपने आधे में प्रत्येक दूसरे भूतोंके आधे भागका चतुर्थांश मिला हुआ रहता है इसमें सन्देह नहीं ॥ २६ ॥ हे महर्षियो ! जैसे पञ्चीकृत आकाशमें अपञ्चीकृत आकाशका आधा भाग और दूसरे प्रत्येक अपञ्चीकृतभूतोंके अर्द्ध भागका चतुर्थांश अर्थात् अपर प्रत्येक भूतोंका अष्टमांश मिला हुआ है इसमें सन्देह नहीं, इसी प्रकार प्रत्येक भूतमें मिश्रण जानना

नन्वपञ्चीकृतानाम्वै अष्टमांशो न संशयः ।
एवमन्येषु भूतेषु बोद्धव्यं मिश्रणं ध्रुवम् ॥ २८ ॥
एतैः पञ्चीकृतैः पञ्चमहाभूतैर्हि जायते ।
ब्रह्माण्डं सततं स्थूलं प्रत्येकं नात्र संशयः ॥ २९ ॥
ब्रह्माण्डमपि प्रत्येकमधश्चोर्द्ध्वं विभज्यते ।
तच्चतुर्दशलोकेषु नानाश्चर्य्यमयेष्वहो ॥ ३० ॥
ब्रह्माण्डे तत्र प्रत्येकमुद्भिज्जस्वेदजाण्डजाः ।
जरायुजाश्च जायन्ते चतुर्धा स्थूलदेहकाः ॥ ३१ ॥
दैव्यास्तद्व्यतिरिक्तं वै सृष्टेर्वैचित्र्यमुत्तमम् ।
किमप्यपूर्वमेतेभ्यो विद्यते विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ३२ ॥
जीवास्तत्तच्छरीराणामभिमानिन आसते ।
ईश्वरोऽनन्तब्रह्माण्डाभिमानी विद्यते खलु ॥ ३३ ॥
ब्रह्माण्डपिण्डयोरैक्यमेवं जातं महर्षयः ! ।
नैवात्र विस्मयः कार्य्यो भवद्भिर्विप्रपुङ्गवाः ! ॥ ३४ ॥
ईश्वरस्य च जीवस्य भेदो ब्रह्मणि कल्प्यते ।

चाहिये ॥ २७-२८ ॥ इन पञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंसे ही प्रत्येक स्थूल ब्रह्माण्ड निरन्तर उत्पन्न होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ २९ ॥ प्रत्येक ब्रह्माण्ड भी ऊर्द्ध्वाधोरूपसे नानाश्चर्यमय चतुर्दश भुवनोंमें विभक्त है ॥३०॥ उन प्रत्येक ब्रह्माण्डोंमें उद्भिज्ज स्वेदज अण्डज और जरायुज ये चार प्रकारके स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥ हे विप्र-श्रेष्ठो! इनके अतिरिक्त दैवी सृष्टिकी उत्तम विचित्रता इनसे कुछ विलक्षण ही है ॥३२॥ शरीरोंका अभिमान रखनेवाले जीव और अनन्त ब्रह्माण्डोंके अभिमान रखनेवाले ही ईश्वर हैं ॥ ३३ ॥ हे महर्षिगण! इस प्रकारसे पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकता प्रतिपन्न हुई, हे विप्रवरो! आपलोग इसमें विस्मय न करें ॥ ३४ ॥ हे ब्राह्मणो! ब्रह्ममें ही अविद्या

मायाऽविद्यात्मकान्नूनं क्रमादावरणाद्द्विजाः ! ॥ ३५ ॥
ब्रह्मणः प्रतिबिम्बं हि जीवो देहाभिमानकः ।
स्वस्मात्स्वभावतो भिन्न ईश्वरस्तेन मन्यते ॥ ३६ ॥
ईश्वरस्य च जीवस्य भेदो यावदुपाधितः ।
तिष्ठेत्, तावत्क्षणं विप्राः ! कथञ्चिच्च कदाचन ॥ ३७ ॥
जन्ममृत्युप्रवाहोऽसौ संसारो न निवर्त्तते ।
ईश्वरे चैव जीवे च भेदबुद्धिः कदाप्यतः ॥ ३८ ॥
न कर्त्तव्या द्विजश्रेष्ठाः ! तत्त्वज्ञैरात्मवेदिभिः ।
मङ्गलं जायते तेषामतो नूनं महर्षयः ! ॥ ३९ ॥
साहङ्कारस्य जीवस्य किञ्चिज्ज्ञस्य हि कोविदाः ! ।
सर्वज्ञेनेश्वरेणाहो निरहङ्कारिणा सह ॥ ४० ॥
तत्त्वमस्यादिभिर्वाक्यैरेतयोर्भिन्नधर्म्मयोः ।
कथं न्वभेदबुद्धिः स्याच्छङ्क्यते चेन्निशम्यताम् ॥ ४१ ॥
अर्थद्वयं द्विजश्रेष्ठाः ! स्यात्तत्त्वंपदयोर्द्वयोः ।

और मायारूप आवरणके द्वारा जीव और ईश्वर का भेद कल्पना किया गया है ॥ ३५ ॥ शरीरका अभिमान रखनेवाला जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है, वह जीव स्वभावसे ही ईश्वरको अपनेसे भिन्न समझता है ॥ ३६ ॥ हे विप्रो ! उपाधिके भेदसे जीव और ईश्वरमें भेददृष्टि जब तक रहती है तब तक जन्ममरणप्रवाहरूप यह संसार कभी और किसी प्रकार निवृत्त नहीं होता है इस कारणसे हे द्विजश्रेष्ठो ! जीव और ईश्वरमें भेददृष्टि तत्त्वज्ञ आत्मज्ञानियोंको कदापि नहीं करनी चाहिये । हे महर्षियो ! इससे उनका अवश्य मंगल होता है ॥ ३७-३८ ॥ हे विज्ञो ! अहङ्कारवान् और अल्पज्ञ जीवको निरहङ्कार और सर्व्वज्ञ ईश्वरके साथ " तत्त्वमसि " आदि महावाक्योंके द्वारा, अहो ! इन दोनों विरुद्धधर्म्मियोंमें अभेदबुद्धि कैसे हो सकती है । यदि ऐसी शङ्का करो तो सुनो ॥ ४०-४१ ॥ हे विज्ञ विप्रवरो !

वाच्यार्थश्चैव भो विज्ञाः ! लक्ष्यार्थश्च न संशयः ॥ ४२ ॥
अविद्यावांश्च तत्कार्य्यकर्तृत्वादिगुणैर्युतः ।
जीवो देहाभिमानीति वाच्योऽर्थस्त्वम्पदस्य हि ॥ ४३ ॥
अविद्योपाधिनिर्मुक्तं समाधेश्च दशां गतम् ।
अविद्यया च तत्कार्य्यै रहितं प्रतिभान्विताः ! ॥ ४४ ॥
चिन्मात्रं शुद्धचैतन्यं लक्ष्यार्थस्त्वम्पदस्य वै ।
वाच्यार्थश्चैव लक्ष्यार्थस्तत्पदस्यापि कथ्यते ॥ ४५ ॥
मायातत्कार्य्यसर्वज्ञभावादिगुणसंयुतः ।
ईश्वरस्तत्पदस्यास्ति वाच्यार्थो नात्र संशयः ॥ ४६ ॥
मायातत्कार्य्यतः शून्यं मायोपाधिविवर्जितम् ।
चिन्मात्रं शुद्धचैतन्यं लक्ष्यार्थस्तत्पदस्य वै ॥ ४७ ॥
ईश्वरस्य च जीवस्य शुद्धचैतन्यरूपतः ।
अभेदे बाधकाभावः स्यादेवं ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥ ४८ ॥
अहं ब्रह्मास्मि ' चेत्यादिमहावाक्यैरपि द्विजाः ! ।

तत् और त्वं इन दोनों पदोंके वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थरूप दो दो अर्थ होते हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ ४२ ॥ अविद्या, उसका कार्य्य और कर्त्तृत्वादि गुणवाला और शरीरका अभिमानी जीव यही त्वंपदका वाच्यार्थ है ॥ ४३ ॥ हे प्रतिभाशालियो ! अविद्यारूप उपाधिसे निर्मुक्त, समाधिदशाप्राप्त, अविद्याऔर उसके कार्य्यसे रहित, चिन्मात्र और शुद्ध चैतन्य ही त्वंपदका लक्ष्यार्थ है। अब तत्पदका भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ कहता हूँ ॥ ४४-४५ ॥ माया और उसका कार्य्य एवं सर्वज्ञत्व आदि गुणोंवाला ईश्वर तत्पदका वाच्य अर्थ है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४६ ॥ मायारूप उपाधिसे शून्य, शुद्ध चैतन्य, माया और उसके कार्य्यसे रहित और चिन्मात्र ही तत्पदका लक्ष्य अर्थ है ॥ ४७ ॥ हे विप्रश्रेष्ठो ! इस प्रकारसे जीव और ईश्वरमें चैतन्यरूपसे अभेद होनेमें कोई बाधक नहीं है ॥ ४८ ॥ हे विप्रो! उन दोनोंकी एकता "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि महावाक्योंसे भी

विज्ञायते तयोरैक्यमुभयोर्नात्र संशयः ॥ ४९ ॥
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव केवलम् ।
इति शास्त्रोपदेशेन श्रीगुरोरुपदेशतः ॥ ५० ॥
स्वानुभूत्याऽथवा विज्ञाः ! ये विदन्ति सुसाधकाः ।
येषाञ्च प्राणिमात्रेषु सर्व्वेषु ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥ ५१ ॥
ब्रह्मबुद्धिः समुत्पन्ना ज्ञानयोगेन सर्वथा ।
त एव ज्ञानिनो भक्ता जीवन्मुक्ता भवन्ति मे ॥ ५२ ॥
एतद्वेदान्तसिद्धान्ततात्पर्य्यं हि निशम्यताम् ।
अविद्योपाधिसम्भ्रान्तिर्यदा दूरीभविष्यति ॥ ५३ ॥
ब्रह्मसत्तैव लक्ष्यार्थरूपेणैवावशिष्यते ।
मायोपाधेर्महत्त्वञ्च तत्त्वज्ञानेन वेत्स्यते ॥ ५४ ॥
ततश्च ब्रह्मरूपो हि लक्ष्यार्थः परिशिष्यते ।
जीवन्मुक्ता महात्मानस्तत्त्वज्ञानाब्धिपारगाः ॥ ५५ ॥
जीवेशयोरित्थमेतमभेदमनुभूय च ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तः कृतकृत्या भवन्ति ते ॥ ५६ ॥

जानी जातीहै इसमें सन्देह नहीं॥४९॥ हे विज्ञ विप्रवरो ! जो सुसाधक ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव केवल ब्रह्म ही है ऐसा शास्त्रोपदेशसे श्रीगुरूपदेशसे और अपने अनुभवसे जानते हैं एवं जिनकी सब प्राणिमात्रों पर ज्ञानयोगसे सर्वथा ब्रह्मबुद्धि उत्पन्न हुई है वेही मेरे ज्ञानी भक्त जीवन्मुक्त हैं॥५०-५२॥इस वेदान्तके सिद्धान्तका तात्पर्य्य सुनो। जब अविद्यारूप उपाधिभ्रम दूर होजायगा तो ब्रह्मसत्ता लक्ष्यार्थरूपसे अवशेष रहेगी। उसी प्रकार जब मायारूप उपाधिका महत्त्व तत्त्वज्ञानके द्वारा ज्ञात होगा तब भी लक्ष्यार्थरूप ब्रह्मही अवशेष रह जायगा। इस प्रकारसे तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मा जीव और ईश्वर दोनोंकी यह अभेद सत्ता अनुभव करके वे ब्रह्मानन्दमें निमग्न होते हुए कृतकृत्य होते हैं ॥ ५३-५६ ॥

जडैर्जीवगणैर्विश्वं विषयात्मकमीक्ष्यते।
अज्ञानिजीवजातेन सुखरूपं निरीक्ष्यते॥ ५७॥
जगत्प्रपञ्चजातन्तु ज्ञानवद्भिर्विवेकिभिः।
परिणामीति विज्ञाय दुःखरूपं प्रतीयते॥ ५८॥
किन्तु मे ज्ञानिनो भक्ता जीवन्मुक्तगणाः खलु।
संसारमेतं पश्यन्ति स्वरूपे काऽप्यलौकिके॥ ५९॥
संसारं मे प्रकृत्यैतं प्रसूतं सर्वथाऽद्भुतम्।
आकाश इव गान्धर्वं पश्यन्तो नगरं मुहुः॥ ६०॥
मिथ्यैव तत्स्वरूपञ्च जानन्तोऽपि द्विजोत्तमाः!।
दर्शं दर्शं प्रमोदन्ते तद्रूपं कौतुकप्रदम्॥ ६१॥
मृगतृष्णासमं विश्वं भ्रान्तिस्तोमसमाकुलम्।
दृष्ट्वेन्द्रजालवन्मिथ्या-प्रपञ्चावलिमूलकम्॥ ६२॥
मम शक्तेर्गुणानाञ्च परिणामस्वरूपकम्।
तत्र नैव प्रसज्जन्ते पद्मपत्रमिवाम्भसि॥ ६३॥
तिष्ठन्तोऽपि प्रपञ्चेषु पृथग्भूतास्ततो ध्रुवम्।

इस संसारको जड़ जीवगण विषयके रूपमें देखते हैं, अज्ञानी जीवगण सुखरूपसे देखते हैं॥ ५७॥ ज्ञानवान् विवेकिजन सम्पूर्ण संसारप्रपञ्चको परिणामी जानकर दुःखमय रूपमें अनुभव करते हैं॥ ५८॥ परन्तु मेरे ज्ञानीभक्त जीवन्मुक्तगण इस संसारको कुछ और ही अलौकिक रूपमें देखते हैं॥ ५९॥ हे विप्रवरो! वे मेरी प्रकृतिप्रसूत सर्व्वथा अद्भुत इस संसारको आकाशमें गन्धर्वनगरके समान वार वार देखकर और उसके स्वरूपको मिथ्या ही जानते हुए भी उस कौतुकप्रदरूपको देख देखकर आनन्दित होते हैं॥ ६०-६१॥ वे इस संसारको मृगमरीचिकावत् अनेक भ्रमयुक्त, इन्द्रजालवत् मिथ्या प्रपञ्चोंका मूल और मेरी शक्तिके ही गुणोंका परिणामस्वरूप देखकर उसमें फंसते ही नहीं। वे इस प्रपञ्चमें रहकर भी जलमें पद्मपत्रके समान उससे अलग ही रहते हैं।

भवितुं ह्येतदेवाऽर्हं लक्ष्यमुच्चपदं हितम् ॥ ६४ ॥
श्रेष्ठानां ब्राह्मणानां हि सर्व्वत्रैव सुखावहम् ।
परीवारोपमास्तेषां संसारा अखिला अमी ॥ ६५ ॥
देवर्षिपितृसङ्घाश्च तदर्थं बान्धवोपमाः ।
त्याज्यं वाऽऽदेयमप्यस्ति तेषां नैवेह किञ्चन ॥ ६६ ॥
पितरौ च कुलं जातिं स्थूलदेहेन कुर्वते ।
निखिलां पृथिवीं धन्यां मातृभूमिं विशेषतः ॥ ६७ ॥
दैवीञ्च जगतीं सूक्ष्मां सूक्ष्मदेहेन कुर्वते ।
सर्वदा सर्वथा धन्यां ते विप्रा नैव संशयः ॥ ६८ ॥
ब्रह्मानन्दसुसन्दोहसविलासस्वरूपतः ।
धन्यं धन्यं पुनर्धन्यं कुर्वते मामसंशयम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे धीशर्षि-
संवादे वेदान्तसिद्धान्तनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको यही सर्व्वत्र ही सुखप्रद हितकर उच्चपद लक्ष्यरूप होना चाहिये । उनके लिये ये सब संसार परिवारके समान है ॥ ६२-६५ ॥ देवता ऋषि और पितृगण उनके लिये बान्धव हैं। उनके लिये इस संसारमें गृहणीय भी कुछ नहीं ही है और त्याग करने योग्य भी कुछ नहीं ही है ॥ ६६ ॥ वे स्थूल शरीरसे माता पिता कुल जाति और समस्त पृथिवीको और विशेषतः जन्म-भूमिको धन्य करते हैं ॥ ६७ ॥ हे विप्रो ! वे सूक्ष्मशरीरसे सूक्ष्मदैवी जगत्को सब प्रकारसे सर्वदा धन्य कहते हैं इसमें सन्देह नहीं ॥ ६८ ॥ और ब्रह्मानन्दसुसन्दोहके सम्यक् विलासस्वरूपसे निः-सन्देह मुझे धन्य धन्यकरते हैं ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद्में ब्रह्मविद्यासम्बन्धी योग-शास्त्रका धीशर्षिसंवादात्मक वेदान्तसिद्धान्तनिरूपण नामका छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

विराट्स्वरूपनिरूपणम् ।

ऋषय ऊचुः ॥ १ ॥

हे सर्वज्ञ ! जगन्निवास ! भगवन् ! देवादिदेव ! प्रभो !
हे सर्वादिगुरो ! दयार्णव ! विभो ! विश्वेश ! विश्वम्भर !।
अस्माकं भवतामपारकृपया नूनं तृतीयं वर–
मद्यान्तर्नयनात्मकं सुविमलं ज्ञानाक्षि प्रोन्मीलितम् ॥ २ ॥
पश्यामोऽद्य भवद्दयोदयवशाद्धारे मणीनां गणान्
सूत्रं प्रोतमिवान्तरेण निखिलब्रह्माण्डपिण्डव्रजे ।
सर्व्वेषां कुरुते सदैकविधिनाऽनुस्यूततामाश्रवान्
चैतन्यास्तितयोर्विधानमखिलं शश्वद्भवानित्यहो ॥ ३ ॥
पश्यामस्तरतो गृहेऽपरिमितान् भूयो यथाऽनन्त ! हे
रन्ध्रद्वारनिविष्टसूर्य्यकिरणस्तोमेष्वणूनां गणान् ।

ऋषिगण बोले ॥ १ ॥

हे प्रभो ! हे भगवन् ! हे सर्व्वज्ञ ! हे दयार्णव ! हे विश्वेश ! हे देवादिदेव ! हे जगन्निवास ! हे सब गुरुओंके आदिगुरु ! हे विश्वम्भर ! हे विभो ! आपकी अपार कृपासे आज हमारा अन्तर्नेत्ररूपी ज्ञाननेत्र जो श्रेष्ठ निर्मल तृतीय नेत्र है सो निश्चय ही खुल गया है ॥२॥ आपकी कृपाके उदयसे अब हम देखते हैं कि आप जैसे मालामें मणिगणके बीच पिरोया हुआ सूत्र रहता है उसी प्रकार सब पिण्ड और सब ब्रह्माण्डोंमें एकरूपसे सदा अनुस्यूत रहकर अहो ! सबके अस्तित्व और सबके चैतन्यका सम्पूर्ण विधान निरन्तर करते हैं ॥ ३ ॥ पुनः हे अनन्त ! जिस प्रकार घरमें छिद्ररूपमार्गसे प्रविष्ट सूर्य्यकिरणोंमें तैरते हुए अपरिमित अणुसमूहको हम

ब्रह्माण्डानि तथा तरन्ति च विराड्देहाश्रितानि प्रभो–
र्नाद्यन्ते विपुलेऽमितानि वियति प्रोद्द्योतयन्ति ह्यमुम् ॥४॥

पश्यामश्च पुनर्वयं तव विराड्रूपं हि यत्राधुना
भात्यन्तो हरितां न चादिरपि तद्देशस्य सन्दृश्यते ।
पश्यामश्च पुनर्वयं तव महादेहे महाकौतुकम्
व्याप्तश्चाऽगणितैर्विराड्वपुषि ते सूर्य्यग्रहोपग्रहैः ॥ ५ ॥

सङ्घातप्रतिघाततः परिणमन् ब्रह्माण्डभाण्डव्रजः
ह्यन्योऽन्यं परमाणुरूपनिचयेऽनन्तो महाकाल ! हे ।
जायन्ते परमाणवश्च निखिला ब्रह्माण्डरूपाः पुनः
नानाकारयुताः प्रभो ! बहुविधाः प्रत्येकमेव क्षणम् ॥ ६ ॥

नक्षत्रावलिभिश्च नूनमखिलैः क्वापि ग्रहोपग्रहैः
सूर्य्याद्यैर्हि समावृताः सुसघनाः सन्तः परीणामतः ।
ब्रह्माण्डव्रजसम्भवक्षयाविधिर्यत्र प्रभो ! भासते

देखते हैं उस प्रकार आदि अन्त रहित महाकाशमें अनन्त ब्रह्माण्ड-समूह आपके विराट् देहको आश्रय करके तैर रहे हैं और शोभाको निश्चय ही बढ़ा रहे हैं ॥ ४ ॥ हम पुनः देख रहे हैं कि आपका विराट्रूप जहां इस समय प्रकाशित होरहा है उस देशकी दिशाओंका न आदि और न अनन्त ही दिखाई देता है। हे महाकाल ! हम पुनः आपके विराट् देहमें महाकौतुक देख रहे हैं : आपके उस विराट् वपुमें अनन्त सूर्य्य और अनन्त ग्रह उपग्रह द्वारा परि-व्याप्त अनन्त ब्रह्माण्डसमूह आपसके घातप्रतिघातसे परमाणु-रूपोंमें परिणत होरहे हैं और हे प्रभो ! कहीं सब परमाणुपुञ्ज सम्यक्रूपसे पुनः घनीभूत होकर नक्षत्रसमूह और सूर्य्यादि अखिल ग्रहोपग्रहोंसे आवृत अनेक प्रकारके और अनेक आकृति-वाले ब्रह्माण्डरूपोंमें अनुक्षण ही परिणत होरहे हैं। परन्तु हे

काले तस्य न दृश्यते कथमपि त्वादिर्न चान्तः परम् ॥ ७ ॥
सार्द्धञ्चैव विराड़नन्तवपुषा प्रोतौतयोस्ते तयोः
नान्तो नादिरवेक्ष्यते किमपि चेद्देशस्य कालस्य च ।
द्रष्टुं तर्हि विराड़नन्तवपुषः शक्तः कथं कोऽप्यहो
आदिं चान्तमशेषतः किमुत वै मूढ़ा वताऽस्मादृशाः ॥ ८ ॥
भूतस्रष्टरु ! भूतपालक ! सदा हे भूतहारिन् ! विभो !
अस्माभिर्निखिलैरितीक्ष्यत इहानन्तानि भूयोऽपि ते ।
ब्रह्माण्डानि पृथक् प्रकट्य प्रकृतेः कर्म्मप्रवाहे पृथक्
लीयन्ते प्रकृतौ स्वयं तव मुहुः सद्यो निविष्टानि च ॥ ९ ॥
जायन्ते प्रकृतेर्हि पिण्डनिवहास्ते भूतभावोद्भव-
कृद्रूपेण चितो जड़ेन सह यो ग्रन्थिर्विसर्गेण वै ।
तद्रूपाः परमाणुतो ह्यगणिताः प्रत्येकतो हि स्वतः

प्रभो ! इन ब्रह्माण्डसमूहकी उत्पत्ति और लयका कार्य्य जिस कालमें प्रतिभासित होता है उस कालका किसी प्रकार भी न आदि और न अन्त हमें दिखाई पड़ता है ॥ ६-७ ॥ आपके विराट् रूप असीम देह के साथ ही ओतप्रोत उन देश और कालका जब आदि और अन्त कुछ भी हमें दिखाई नहीं पड़ता है तब अहो ! आपके विराट्रूप असीम देहका आदि और अन्त निःशेषरूपसे देखनेमें कोई भी किस प्रकार समर्थ हो सकता है और हमारे जैसे मूर्खोंकी तो बात ही क्या है ॥ ८ ॥ हे सदा भूतस्रष्टा ! भूत-पालक ! भूतहारी विभो ! हम सब यहां फिर भी यह देखते हैं कि अनन्त ब्रह्माण्डसमूह पृथक् पृथक् रूपमें आपकी प्रकृतिसे कर्म्म-स्रोतमें अपने आपही प्रकट होकर अपने आप ही आपकी प्रकृतिमें सद्यः प्रवेश करके बारबार लयको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥ उसी कर्म-स्रोतमें अपने आपही प्रत्येक परमाणुसे भूतभावोद्भवकर विसर्ग द्वारा आपकी ही प्रकृतिसे चिज्जडग्रन्थिरूपी अनन्त पिण्ड प्रकट

कर्म्मस्रोतसि ते प्रविश्य प्रकृतौ लीयन्त एवं ततः ॥ १० ॥
पश्यामश्च भवाननन्तनयनो हे विश्वचक्षुः ! क्रमात्
पिण्डौघस्य गतिं प्रपश्यति सदा ब्रह्माण्डपुञ्जस्य च ।
आकृष्याऽभिमुखं निजस्य नयते धर्म्मस्य शक्त्या च तं
दृष्ट्वा सर्वमलौकिकं हि चकिता बुद्धिर्न एतादृशम ॥ ११ ॥
पश्यामः पुनरप्यनन्तनिखिलब्रह्माण्डपिण्डावलेः
श्रोत्रानन्त्ययुतः शृणोति सततं भूयो भवान् प्रार्थनाम् ।
चिच्छक्त्या चितिसंयुतांश्च विदधत्तां विश्वचेतः क्रमात्
सान्निध्यं च यथोत्तरं निजमहो तस्यै दिशन् राजते ॥ १२ ॥
पश्यामश्च भवानन्तरसनायुक्तः सुहृत्त्वं गतः
बुद्धे रूपमधिश्रितो रसमय ! ब्रह्माण्डपिण्डावलेः ।
मध्येऽध्यात्मपदं विविच्य परमानन्दात्मकं प्राणिनः

होते हैं और दूसरी ओर अपने आपही आपकी प्रकृतिमें प्रवेश करके लयको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ हे विश्वचक्षु ! हमलोग पुनः देखते हैं कि आप अनन्त नेत्र होकर पिण्डसमूह और ब्राह्माण्डसमूहकी गतिको निरन्तर देखते हो और अपनी धर्म्मशक्तिके द्वारा क्रमशः उनको अपनी ओर आकर्षण करते जाते हो। इस प्रकारके सब चमत्कारोंको देखकर हमारी बुद्धि चकित हो रही है ॥ ११ ॥ हे विश्वचेता ! हम फिर भी देखते हैं कि आप अनन्तकर्ण होकर सब अनन्त ब्रह्माण्ड और सब अनन्त पिण्डोंकी प्रार्थना निरन्तर श्रवण करते हैं और चितिशक्ति द्वारा उनको क्रमशः उत्तरोत्तर चेतना-युक्त करते हुए और अहो ! उनको आप अपना सान्निध्य देते हुए विराजमान हैं ॥ १२ ॥ हे रसमय ! हम पुनः देखते हैं कि आप अनन्त रसनायुक्त होकर ब्रह्माण्डसमूह और अनन्त पिण्डसमूहमें बुद्धिरूपसे सुहृद्भावमें रहकर हे लोकाश्रयगुरो! आप सब प्राणियोंको

सर्वान् दर्शयते गुरो ! निजकृपालेशेन लोकाश्रय ! ॥१३॥
हे तेजोमय ! तेजसाञ्च निवहानां हे खने ! दृश्यते
त्वं स्पर्शेन्द्रियपुञ्जकुञ्जनिकरैः स्पृष्ट्वा ह्यनन्तैर्युतः ।
स्वैस्तेजोनिवहैरनन्तगणितब्रह्माण्डपिण्डावलिं
सर्व्वां स्वाभिमुखं प्रकृष्य पतनाच्छश्वद्विभो ! रक्षसि ॥१४॥
विश्वाधार ! च नासिकाभिरमिताभिस्त्वं युतो दृश्यसे
जिघ्रन् पुण्यसमूहगन्धममलं ब्रह्माण्डपिण्डावलेः ।
अस्तित्वञ्च विलीनमेव सततं कर्त्तुं हि तस्या निजे
कैवल्याभ्युदयौ प्रयच्छसि यथायोग्याधिकारं प्रभो ! ॥१५॥
भावातीत ! विभो ! सदा त्रिगुणतोऽतीत ! प्रभोऽनुक्षण-
मस्मात्पूर्वमलौकिकं गुणमयं भावस्वरूपं तव ।
रूपं सर्वमनोहरं सुविमलं दर्शेन्द्रियाप्यायक-
मस्माकं हि मनो व्यलीयत तदा सम्पश्यतां सत्वरम् ॥१६॥

अपने कृपाकणसे विवेकपूर्व्वक परमानन्दमय अध्यात्मपद दिखा देते हो ॥ १३ ॥ हे सकल तेजोंके खनिरूप तेजोमय ! हम पुनः देखते हैं कि आप अनन्त स्पर्शेन्द्रियसमूहसे युक्त होकर अगणित और अनन्त ब्रह्माण्ड और पिण्डसमूहको अपने तेजोंके द्वारा स्पर्श करके सबको अपनी ओर निरन्तर खेंचकर हे विभो ! उनका पतन होने नहीं देते हो ॥ १४ ॥ हे विश्वाधार ! हम पुनः देखते हैं कि आप अनन्त नासिकायुक्त होकर ब्रह्माण्ड और पिण्डसमूहके पुण्यपुञ्जका शुभ आघ्राण ग्रहण करके उनके अस्तित्वको अपनेमें ही विलीन करनेके लिये हे प्रभो ! उनको उनके यथायोग्य अधिकारके अनुसार अभ्युदय और निःश्रेयस निरन्तर प्रदान करते रहते हो ॥ १५ ॥ अनुक्षण हे त्रिगुणातीत ! सदा हे भावातीत ! हे विभो ! हे प्रभो ! इससे पूर्व्व जब हम दर्शनेन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले निर्मल और सर्व्वमनोहर आपके गुणमय और भावमय अलौकिक रूपके दर्शन करते थे तब हमारा मन शीघ्र लयावस्थाको प्राप्त हो गया था

अद्यत्वे तु विराट्स्वरूपममुकं दृष्ट्वा विशालं तव
बुद्धिर्नः स्थगिता च याति चकिताऽवस्थां विलीनां पुनः ।
रूपं नः परिदर्शयाद्य कृपया ह्येवम्विधं स्वं यतः
सान्निध्यं भवतामनुक्षणमहो लब्धुं वयञ्चेश्महे ॥१७॥
हे सर्व्वेश्वर ! भक्तकल्पलतिकारूप ! प्रभो ! पालक !
रूपेणापि विवर्जितो विभुरहो भव्याय भक्तावलेः ।
भक्तानां प्रकृतिप्रवृत्तिजनितां स्वीकृत्य वै प्रार्थनां
कल्याणं सगुणं स्वरूपममितं साध्नोति विभ्रद्भवान् ॥१८॥
विभ्राणो रविरूपमेव सवितः ! भक्तान् भवांस्तेजसा
आकर्षत्यनिशं विभो ! ह्यतितरां कैवल्यभूमौ ध्रुवम् ।
हे नारायण ! विष्णुरूपमभितः स्वीकृत्य चिद्भावतो
ब्रह्मीभावमिमान् निरीक्ष्य नयते तेषां क्रमेणोन्नतिम् ॥१९॥

॥ १६ ॥ अब तो आपके इस विशाल विराट्स्वरूपका दर्शन करके हमलोगोंकी बुद्धि भी चकित और थकित होकर लयावस्थाको प्राप्त हो रही है । अब कृपा करके आप ऐसे अपने रूपमें हमें दर्शन देवें कि जिसके अवलम्बनसे हम हरसमय अहो ! आपके सान्निध्यको भी प्राप्त करसकें ॥१७॥ हे सर्व्वेश्वर ! हे भक्तवाञ्छाकल्पतरु ! हे प्रभो ! हे पालक ! आप रूपरहित और विभु होने पर भी अहो ! अपने भक्तोंके कल्याणके लिये उनकी प्रकृति और प्रवृत्तिजनित प्रार्थनाको स्वीकार करके ही नाना सगुणरूप धारण करके उनका कल्याण साधन करते हैं ॥ १८ ॥ हे सवितः ! आपही सूर्य्यरूप धारण करके तेज द्वारा हे विभो ! भक्तोंको कैवल्य भूमिमें निरन्तर ही अतिशय आकर्षित करते हैं । हे नारायण ! आप विष्णुरूप धारण करके चिद्भाव द्वारा उनकी क्रमोन्नतिका पर्य्यवेक्षण करके उनको ब्रह्मसद्भाव प्राप्त कराते हो ॥ १९ ॥ हे शक्तिमन् !

देवीरूपमहो धरन् हि नयते धर्म्मस्य शक्त्या भवान्
सर्वेषां ह नियामकं परपदं हे शक्तिमन् ! तान्सदा ।
अस्तित्वस्य विधायकं च बहु सद्भावेन भक्तान्निजान्
हे शम्भो ! शिवरूपतो गमयते निःश्रेयसं निर्भयम् ॥ २० ॥
स्वं भक्तांश्च धिया स्वरूपमनिशं सन्दर्श्य सिद्धेः पते
दत्ते मुक्तिपदं परं गणपतेर्धृत्वा स्वरूपं भवान् ।
सर्वेषामिह वर्त्तते खलु गुरो ! ह्याद्यो गुरूणां गुरु-
र्देशादस्ति भवान् हि शश्वदपरिच्छिन्नस्तथा कालतः ॥२१॥
त्वं सर्वादिगुरुर्विभासि सकलाज्ज्ञानस्वरूपे सदा
आदायर्षिगणा वयं तव विभो ! ज्ञानाब्धिविप्रुड्लवम् ।
ब्रह्माण्डेषु प्रवाहयाम इह वै ज्ञानप्रवाहं तथा
सर्वेष्वत्र विचक्षणा द्विजगणाः स्नात्वैव मुक्तिं ययुः ॥२२॥
धारोत्पद्य हि देवनायक ! विभो ! सर्गस्थितिध्वंसकृ-

अहो ! आपही देवीरूप धारण करके धर्म्मशक्ति द्वारा सबके नियामक परमपदमें सदा उनको पहुंचा देते हैं । हे शम्भो ! आपही शिवरूप धारण करके सद्भाव द्वारा सबके अस्तित्वविधानकारी निर्भय निःश्रेयस पदमें अपने भक्तोंको अवश्य पहुंचादेते हैं ॥ २० ॥ और हे सिद्धिपते ! आपही गणपतिका स्वरूप धारण करके बुद्धि द्वारा भक्तोंको स्वस्वरूप दिखाकर निरन्तर परममुक्तिपद प्रदान करते हैं । हे गुरो ! इस संसारमें आपही सब गुरुओंके आदिगुरु हैं क्योंकि आप सकल देशकालसे निरन्तर अपरिच्छिन्न और सर्वादिगुरु होकर ज्ञानस्वरूपमें सदा विराजमान रहते हैं और सब ब्रह्माण्डोंमें हम ऋषिगण हे विभो ! आपके ही ज्ञानसागरकी विप्रुट्कणिकाको लेकर ज्ञानस्रोतको इस विश्वमें प्रवाहित करते हैं । इसमें विद्वान् ब्राह्मणगण स्नान करके ही मुक्तिको प्राप्त हुए हैं ॥ २१-२२ ॥ हे देवनायक विभो ! सृष्टि स्थिति प्रलय कारिणी विश्व-

द्विश्वव्यापककर्म्मणोऽपि भवतस्त्वय्येव संलीयते
सर्व्वे देवगणाः सदैव भवतामङ्गीभवन्तो मुदा
प्रत्येकं जनिरक्षणक्षयविधिर्ब्रह्माण्डपुञ्जेऽनिशम् ॥२३॥
सामञ्जस्यमहो प्रभो ! विदधते कर्म्मव्यवस्थारताः
उद्भित्स्वेदजरायुजाण्डजगणा भूतव्रजाः सन्ति ये ।
सर्वे ते च चतुर्विधा हि मनुजानां हे प्रजानां पते !
देवानां त्रिविधास्तथाऽसुरगणानां ये च लोका अहो ॥२४॥
त्वत्तो बुद्बुदवन्महार्णव इह त्वय्येव प्रोद्भूय ते
लीयन्ते पितरोऽपि शक्तिमतुलां त्वत्तो गृहीत्वैव च ।
कृत्वा मर्त्यगणोन्नतिं क्रमगतां साहाय्यमातन्वते
भूतौघस्य चतुर्विधस्य नियमे लोकव्रजस्याप्यलम् ॥ २५ ॥
तत्त्वेभ्योऽपि भवानतीतविभवो नूनं चतुर्विंशते-
र्यद्यप्यास्ति तथापि धीश ! नु महत्तत्त्वेऽन्तिमे प्राणिनः ।

व्यापक कर्म्मकी धारा आपसे उत्पन्न होकर भी आपमें ही विलीन होती है और सब देवतागण सदा आपके ही अङ्गरूप होकर अहो ! प्रत्येक ब्रह्माण्डोंमें प्रसन्नतासे कर्म्मकी व्यवस्था अहर्निश करते हुए हे प्रभो ! सृष्टि स्थिति और लयकी व्यवस्थाका सामञ्जस्य विधान करते हैं । हे प्रजापते ! उद्भिज्ज स्वदेज अण्डज और जरायुजसमूह रूपो जो चतुर्विधभूतसङ्घ हैं वे सब और अहो ! जो दैवी मानवी और आसुरीरूपी त्रिविधलोकसृष्टियाँ हैं वे सब महासमुद्रमें बुद्बुदवत् आपसे ही यहां उत्पन्न होकर आपमें ही लयको प्राप्त होती हैं और पितृगण आपसे ही अतुल शक्तिको लेकर मनुष्योंकी क्रमोन्नतिविधान करके चतुर्विधभूतसङ्घ और लोकसमूहकी व्यवस्था में भलीभांति सहायता करते हैं ॥ २३-२५ ॥ हे धीश ! यद्यपि चतुर्विंशति तत्त्वसे भी अतीतविभव ही आप हो तथापि आप

निसोऽनिर्वचनो विकाररहितो ज्ञानस्य शक्त्या स्थितः
सर्वानभ्युदयस्य दर्शयति वै मोक्षस्य मार्गं तथा ॥ २६ ॥
ये स्वातन्त्र्यमदेन मोहिततमा जीवाः प्रमादेन वै
मूढा ज्ञाननिधेस्तवेङ्गितमहो निसं तिरस्कुर्वते ।
भ्रान्ता दुःखदजन्ममृत्युगहने संसारचक्रे ध्रुवम्
श्रेयोरभ्युदयाध्वनो हि पतिता दुःखान्यलं भुञ्जते ॥ २७ ॥
भर्गो विश्वसमर्चितं यदिह ते ह्यास्ते दयासागर !
तन्नो बुद्धिमहर्निशं गणपते ! शक्त्या स्वया सत्वरम् ।
संरक्ष्यासत एव कर्म्मनिवहात् सत्कर्म्मणि प्रेरयेत्
सिद्ध्याऽलङ्कृतवामपार्श्व ! भगवंस्त्वां सन्नमामो वयम् ॥२८॥

व्यास उवाच ॥ २९ ॥

उक्त्वर्षयस्तस्थुरिति क्षणं त
रोमाञ्चिता गद्गदकण्ठशब्दाः ।

अन्तिम तत्त्व बुद्धिमें ज्ञानशक्तिरूपसे अविकारी अनिर्वचनीय और नित्य स्थित रहकर जीवमात्रको अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग प्रदर्शन कराते हो ॥ २६ ॥ स्वाधीनताके मदसे विमोहित जो मूढ़ जीव प्रमादवश ही ज्ञाननिधि आपके इङ्गितकी अहो ! नित्य अवहेला करते हैं वे अवश्य कल्याणकारी अभ्युदयके मार्गसे च्युत होकर ही दुःखदायी जन्ममृत्युओंसे गहन संसारचक्रमें अतिशय घूर्णायमान होकर दुःख भोगते रहते हैं ॥ २७ ॥ हे दयासागर ! आपका ही जो इस संसारमें जगत्पूज्य भर्ग (तेज) है वह हे सिद्धिदेवीसे अलङ्कृतवामपार्श्व भगवन् गणपते ! हमारी बुद्धिको अपनी शक्तिके द्वारा असत् कर्म्मसमूहसे बचाकर सत्कर्ममें शीघ्र प्रेरणा करे। आपको हम अनन्यभावसे प्रणाम करते हैं ॥ २८ ॥

व्यासदेव बोले ॥ २९ ॥

इतना कहकर वे ऋषिगण कुछ देरतक आनन्दाश्रुयुक्तमुख गद्-

सानन्दजाताश्रुमुखाः स्थिराश्च
विहस्य धीशो मधुरं तदोचे ॥३०॥

गणपतिरुवाच ॥ ३१ ॥

दशायां योगयुक्तायां रूपं मे सगुणं द्विजाः ! ।
आत्मयुक्तदशायाञ्च विराड्रूपं महाद्भुतम् ॥ ३२ ॥
कर्म्मयुक्तदशायान्तु ममोपास्तौ सहायकम् ।
मद्विभूतिमयं रूपं भक्ताः ! स्याच्छ्रुतिरित्यहो ! ॥ ३३ ॥
स्वाधीनः प्राकृतश्चैव द्विविधो जीव ईरितः ।
गजोऽहं प्राकृते जीवे स्वाधीने मानवस्तथा ॥ ३४ ॥
अतोऽहं भक्तवृन्देभ्यो मर्त्यदेहो गजाननः ।
दर्शनं स्वं प्रयच्छामि प्रादुर्भूय निरन्तरम् ॥ ३५ ॥
राजयोगोऽस्मि योगानामहमेवंविधोऽपि सन् ।
चतुर्विधेषु ध्यानेषु पञ्चोपास्तेरहं ध्रुवम् ॥ ३६ ॥

गद्‌गदकण्ठस्वर रोमाञ्चित और निःस्तब्ध होकर रहे। तदनन्तर भगवान् गणपतिजीने मुस्कराकर मधुर स्वरसे कहा ॥ ३० ॥

गणपति बोले ॥ ३१ ॥

हे भक्त द्विजगण ! योगयुक्त अवस्थामें मेरा सगुणरूप, आत्मयुक्त अवस्थामें मेरा महदद्भुत विराट्रूप और कर्म्मयुक्त अवस्थामें मेरा विभूतिमयरूप मेरी उपासनामें सहायक होता है। अहो यही श्रुति है ॥ ३२-३३ ॥ जीव प्राकृत और स्वाधीनरूपसे दो प्रकारका कहा गया है। प्राकृत जीवोंमें मैं हस्ती हूँ और स्वाधीन जीवोंमें मैं मनुष्य हूँ ॥ ३४ ॥ इसी कारण हस्तीके सदृश मुख और मनुष्य सदृश शरीर होकर मैं भक्तोंको निरन्तर प्रकट होकर अपना दर्शन देता हूँ ॥ ३५ ॥ मैं योगमें राजयोग हूँ परन्तु हे द्विजश्रेष्ठो ! ऐसा होकर भी मैं चतुर्विध ध्यानोंमें से पञ्चोपासनाके पाँच ध्यान-

पञ्चध्यानयुतं स्थूल–ध्यानमास्मि द्विजोत्तमाः ! ।
नैवात्र संशयः काश्चित् सत्यं सत्यं ब्रवीमि वः ॥ ३७ ॥
नरेषु नरनाथोऽस्मि राज्ये तु सचिवाभिधः ।
मन्त्रिणां मण्डलं यस्माज्ज्ञानस्यास्ते सहायकम् ॥ ३८ ॥
शक्तिष्वहं दैवशक्तिरीदृशोऽहन्तु सन्नपि ।
लौकिके शक्तिपुञ्जेऽस्मि सङ्घशक्तिर्महर्षयः ! ॥ ३९ ॥
आध्यात्मिक्याधिदैव्याधिभौतिक्यः शक्तयोऽखिलाः ।
सङ्घशक्तौ प्रकाशन्ते स्वयमेव यतो ध्रुवम् ॥ ४० ॥
वर्णेषु ब्राह्मणश्चाहमाश्रमेष्वन्तिमाश्रमः ।
वृद्धत्त्वेनैव पूज्येषु सर्ववृद्धेष्वहं द्विजाः ! ॥ ४१ ॥
सर्वथा ज्ञानवृद्धोऽस्मि नात्र कार्य्या विचारणा ।
अध्यात्मलक्ष्यसंयुक्त आर्य्योऽहं मानवेषु च ॥ ४२ ॥
भक्तेषु ज्ञानिभक्तोऽस्मि वेदानां सामनामकः ।
किन्तु वेदविभागेषूपनिषद्रूपभागहम् ॥ ४३ ॥

युक्त स्थूल ध्यान ही हूँ इसमें कुछ सन्देह नहीं है मैं आपलोगोंसे सत्य सत्य कहता हूँ ॥ ३६-३७ ॥ नरोंमें मैं राजा हूँ परन्तु राज्यमें मैं मन्त्रीरूप हूँ क्योंकि मंत्रिमण्डल ज्ञानसहायक है ॥ ३८ ॥ शक्तियोंमें मैं दैवी शक्ति हूँ परन्तु ऐसा होकर भी हे महर्षियो! मैं लौकिक शक्तियोंमें सङ्घशक्ति हूँ ॥ ३९ ॥ क्योंकि सङ्घशक्तिमें आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों शक्तियोंका विकाश अपने आपही अवश्य होजाता है ॥ ४० ॥ मैं वर्णोंमें ब्राह्मण हूँ और आश्रमोंमें मैं सन्न्यासाश्रम हूँ । हे ब्राह्मणो ! वृद्धत्वरूपसे पूजनीय सब प्रकारके वृद्धोंमें सर्व्वथा मैं ज्ञानवृद्ध ही हूँ, इसमें कुछ विचार न करो और मनुष्यश्रेणोमें मैं अध्यात्म लक्ष्ययुक्त आर्य्य हूँ ॥ ४१-४२ ॥ भक्तगणमें मैं ज्ञानीभक्त हूँ । वेदोंके बीच में मैं सामवेद हूँ किन्तु वेदविभागोंमें मैं उपनिषद्रूप हूँ ॥ ४३ ॥

प्रत्याहारश्च योगानामङ्गेष्वस्मि परन्त्वहम् ।
समाधिर्निर्विकल्पोऽस्मि निखिलेषु समाधिषु ॥४४॥
मन्त्रयोगेषु मन्त्रोऽस्मि प्राणायामो हठे द्विजाः ! ।
लयक्रिया लये योगे राजयोगे विवेचनम् ॥४५॥
ब्रह्मदानञ्च दानेषु तपस्यासु यमस्तथा ।
ज्ञानप्रकाशकत्वाच्च कर्म्मयज्ञेषु भो द्विजाः ! ॥४६॥
नित्यकर्म्मास्म्यहं नूनं नात्र काचिद्विवेचना ।
उपास्तियज्ञजातेषु पराभक्त्या समन्विता ॥४७॥
ब्रह्मोपास्तिरहो विज्ञा अस्म्यहं ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥
मननं ज्ञानयज्ञेषु महायज्ञेष्वहं तथा ॥ ४८ ॥
ब्रह्मयज्ञोऽस्मि भो विप्राः ! सर्वयज्ञशिरोमणिः ।
वक्ताऽस्म्यहं सभामध्ये आचार्य्यः शिक्षकेषु च ॥४९॥
उपदेशकवृन्देषु जगत्पूज्योऽस्म्यहं गुरुः ।
आत्माऽहमस्मि भो विप्राः ! भूतवृन्देष्ववस्थितः ॥५०॥

योगके अङ्गोंमें मैं प्रत्याहार हूँ परन्तु सब समाधियोंमें मैं निर्विकल्प समाधि हूँ ॥४४॥ हे ब्राह्मणो ! मन्त्रयोगमें मैं मन्त्र हूँ, हठयोगमें मैं प्राणायाम हूँ, लययोगमें मैं लयक्रिया हूँ और राजयोगमें मैं विवेचन हूँ ॥ ४५ ॥ हे ब्राह्मणो ! दानधर्म्ममें मैं ब्रह्मदान हूँ, तपधर्ममें मैं यम हूँ, कर्म्मयज्ञों में मैं ज्ञानप्रकाशक होनेसे नित्य कर्म्म ही हूँ इसमें कोई विवेचना नहीं है । हे विज्ञ ब्राह्मण श्रेष्ठो ! उपासना यज्ञोंमें मैं अहो ! पराभक्तियुक्त ब्रह्मोपासना हूँ, ज्ञानयज्ञमें मैं मनन हूँ और हे विप्रो ! महायज्ञोंमें मैं सर्व्वयज्ञशिरोमणि ब्रह्मयज्ञ हूँ । सभाके बीचमें मैं वक्ता हूँ और शिक्षकोंके बीचमें मैं आचार्य्य हूँ ॥ ४६–४९ ॥ उपदेशकोंके बीचमें मैं जगत्पूज्य गुरु हूँ । हे विप्रो ! भूतगणके अन्तरमें अवस्थित मैं

प्राणिपुञ्जेषु चैतन्यमहमेव न संशयः ।
नादः शब्दसमूहेषु वाक्येष्वोङ्कार एव च ॥५१॥
इन्द्रोऽहं देववृन्देषु भृगुरस्मि महर्षिषु ।
यमो नियामकेष्वस्मि पितृमध्येऽर्य्यमाभिधः ॥५२॥
असुरेषु बलिर्ज्ञेयो जाह्नव्यस्मि सरित्सु च ।
जलाशयेषु सर्व्वेषु सागरोऽस्मि न संशयः ॥५३॥
पुष्पमानन्ददेष्वस्मि पदार्थेषु महर्षयः ! ।
पवित्रं परमं विप्राः ! तेजस्तेजस्विनामहम् ॥५४॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्म्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि जननाय च ॥ ५५ ॥
विद्यास्वध्यात्मविद्याऽस्मि विद्वांसो ब्राह्मणोत्तमाः ! ।
सत्यप्रकाशकश्चास्मि वादो वादिगणेष्वहम् ॥ ५६ ॥
नारीष्वहं तपोरूपो यज्ञरूपो नरेषु च ।
गुणत्रयेष्वहं विप्राः ! गुणाः सत्त्वाभिधानकः ॥ ५७ ॥

आत्मा हूँ ॥ ५० ॥ सब प्राणियोंमें मैं ही निःसन्देह चेतना रूप हूँ मैं शब्दसमूहमें नाद और वाक्यसमूहमें ओंकार ही हूँ ॥ ५१ ॥ मैं देवताओंमें इन्द्र, महर्षियोंमें भृगु, पितरोंमें अर्य्यमा और नियामकोंमें यम हूँ ॥५२॥ असुरोंमें मुझको बलि जानो। मैं सरिताओंमें जाह्नवी और सब जलाशयोंमें निःसन्देह सागर हूँ ॥ ५३ ॥ हे महर्षिगण आनन्दप्रद पदार्थोंमें मैं पुष्प हूँ। हे विप्रो ! तेजस्वियोंमें मैं परम पवित्र तेजरूप हूँ ॥ ५४ ॥ बलवानोंमें मैं कामरागविवर्जित बल हूँ और उत्पत्तिके लिये प्राणियोंमें मैं धर्म्माविरुद्ध काम हूँ ॥ ५५ ॥ हे विद्वान् विप्रवरो ! मैं विद्यासमूहमें अध्यात्मविद्या हूँ और वादिगणमें मैं सत्यप्रकाशक वाद हूँ ॥ ५६ ॥ स्त्रियोंमें मैं तपोरूप हूँ और पुरुषोंमें मैं यज्ञरूप हूँ। हे विप्रो ! मैं त्रिगुणमें सत्त्वगुण हूँ ॥ ५७ ॥

भावत्रयेऽध्यात्मभावः शीलेषु विनयोऽस्म्यहम् ।
सदाचारेषु वृद्धानां प्रणतिः पादपद्मयोः ॥ ५८ ॥
कारणब्रह्मरूपेण ह्येकोऽद्वैतोऽप्यहं द्विजाः ! ।
अनन्तोऽस्मि महाविज्ञाः ! सत्यमेतन्न संशयः ॥ ५९ ॥
अनन्तत्वात्संख्यया मे कार्य्यब्रह्मस्वरूपतः ।
सङ्ख्यातुं नैव शक्नोति विभूतीः कश्चिदप्यहो ॥ ६० ॥
भवतां विप्रवर्य्याणां कल्याणार्थं हि केवलम् ।
दिग्दर्शनस्वरूपेण किञ्चिद्वो वर्णितं मया ॥ ६१ ॥
उपदेशश्च मे हृद्यं धृत्वा स्वहृदयेऽनिशम् ।
ममोपास्तौ रताः सन्तो भजध्वं मोक्षमुत्तमम् ॥ ६२ ॥
श्रद्धा वः सात्त्विकी विप्राः ! प्रकृतौ मे चिरं वसेत् ।
ममैव प्रकृतिर्धृत्वा स्त्रीभावं कामदायिनी ॥ ६३ ॥
बिभ्राणा भगिनीभावमर्थसिद्धिप्रदायिनी ।
धरन्ती मातृभावञ्च शक्तिधर्म्मप्रदा सदा ॥ ६४ ॥

त्रिभावोंमें मैं अध्यात्मभाव हूँ, मैं शीलमें विनय और सदाचारोंमें वृद्धोंके चरणकमलोंमें प्रणामरूप हूँ ॥ ५८ ॥ हे महाविज्ञ ब्राह्मणो ! मैं कारणब्रह्मरूपसे एक अद्वितीय होकर भी अनन्त हूँ यह सत्य है सन्देह नहीं ॥ ५६ ॥ कार्य्यब्रह्मरूपसे संख्यासे अनन्त होनेके कारण मेरी विभूतियोंकी अहो ! कोई भी संख्या नहीं कर सका ॥ ६० ॥ केवल आप विप्रवरोंके कल्याणार्थ ही दिग्दर्शनरूपसे आपलोगोंसे यह कुछ वर्णन किया है ॥ ६१ ॥ आप मेरे हृदयग्राही उपदेशको अपने हृदयमें निरन्तर रखकर मेरी उपासनामें रत हो कर उत्तम मोक्षपदको प्राप्त हों ॥ ६२ ॥ हे विप्रो ! मेरी प्रकृति पर आपकी सात्त्विक श्रद्धा चिरकालतक बनी रहे। मेरी प्रकृति ही स्त्रीभावको धारण करके कामदा, भगिनीभावको धारण करके अर्थ और सिद्धिप्रदा और मातृभाव धारण करके

भूत्वा मे ज्ञानिनो भक्तान् प्रकृतिस्थान् समन्ततः ।
तेभ्यो मुक्तिपदं दत्ते विदधाना सुदुर्लभम् ॥ ६५ ॥
श्रद्धान्वितानां मच्छक्तौ भक्तानां सुलभो भवेत् ।
चतुर्वर्गो न सन्देहो विद्यतेऽत्र द्विजोत्तमाः ! ॥ ६६ ॥
अत्यन्तं गोपनीया वः श्राविता पनिषन्मया ।
धीशगीताभिधानेन लोकेष्वेषा प्रचार्यताम् ॥ ६७ ॥
यया मे निखिला भक्ताश्चतुर्वर्गमवाप्नुयुः ।
एषा नैव प्रदातव्या नास्तिकेभ्यः कदाचन ॥ ६८ ॥
पापिभ्योऽश्रद्दधानभ्यः प्राणिभ्यो ब्राह्मणोत्तमाः ।
अभक्तेभ्यः कृतघ्नेभ्यो गुरुद्रोहिभ्य एव च ॥ ६९ ॥
श्रद्धा श्रीगुरुवाक्येषु येषां शास्त्रगणेष्वपि ।
विश्वासः परलोकेषु लक्ष्यमाध्यात्मिकं तथा ॥७०॥
मत्परायणता पुण्या वर्तते च निरन्तरम् ।
इयं तेभ्यः प्रदातव्या धीशगीता ध्रुवं द्विजाः ! ॥ ७१ ॥
धीशगीतामिमां पुण्यां पाठयन्ति पठन्ति ये ।

सदा धर्म्म और शक्तिप्रदा होकर मेरे ज्ञानीभक्तोंको सब ओरसे प्रकृतिस्थ करती हुई उनको सुदुर्लभ मुक्तिपद प्रदान करती है ॥ ६३–६५ ॥ मेरी शक्ति पर श्रद्धान्वित भक्तोंको चतुर्वर्ग सुलभ होजाता है हे विप्रवरो ! इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६६ ॥ यह मैंने अति गोपनीय उपनिषद् आपलोगोंको सुनाया है आप इसको धीशगीता नामसे प्रचार करो ॥ ६७ ॥ जिससे मेरे सब भक्त चतुर्वग प्राप्त करें । हे विप्रवरो ! अभक्त नास्तिक श्रद्धाहीन गुरु-विरोधी कृतघ्न और पापात्मा व्यक्तियोंको इसको कदापि नहीं ही देना ॥ ६८–६९ ॥ गुरु और शास्त्रोंमें जिनकी श्रद्धा है, पर-लोकपर जिनका विश्वास है, जिनका लक्ष्य आध्यात्मिक है और जिनमें पवित्र मत्परायणता निरन्तर है हे द्विजो ! उनको यह धीशगीता अवश्य देनी चाहिये ॥ ७०–७१॥ इस पवित्र धीशगीताको

क्लेशकर्म्मविपाकेभ्यो रहिता आशयेन च ॥ ७२ ॥
भजन्ते मेऽखिला भक्ता मत्सायुज्यमसंशयम् ।
न च तान् बाधते कश्चित्तापो लोके कथञ्चन ॥ ७३ ॥
कल्याणजननीमेतां श्रद्धयैव पठन्ति ये ।
एतया येऽथवा यागं गाणपत्यं प्रकुर्वते ॥ ७४ ॥
हवनात्मकमाहोस्वित् केवलं पाठरूपकम् ।
तेषां नश्यन्ति भक्तानामाधयो व्याधयोऽखिलाः ॥ ७५ ॥
संयता ये तपोनिष्ठा भक्तिभावेन कुर्वते ।
पाठस्य श्रवणं सम्यगेतस्याः सार्थकं द्विजाः ! ॥ ७६ ॥
गाणपत्यस्य यागस्यानुष्ठानं वैतया सदा ।
काचिद्बाधा न तेषां स्याद्विपत्तिः प्राणिनां तथा ॥ ७७ ॥
तादृशी विघ्नराशिर्वा नश्येद्या नैव सत्वरम् ।
नात्र कश्चन सन्देहो विद्यते ब्राह्मणोत्तमाः ! ॥ ७८ ॥
आर्ता जिज्ञासवो भक्तास्तथाऽर्थार्थिन एव वै ।

जो अध्ययन और अध्यापन करते हैं, क्लेश कर्म्मविपाक और आशयसे रहित होकर वे मेरे सब भक्त मत्सायुज्यको अवश्य प्राप्त होते हैं और उनको इस संसारमें किसी प्रकार भी कोई ताप बाधा नहीं देता है ॥ ७२-७३ ॥ श्रद्धाके साथ ही इस कल्याणकारिणी गीताका जो पाठ करते हैं अथवा जो इसके द्वारा केवल पाठात्मक वा हवनात्मक गणपतियागका अनुष्ठान करते हैं उन मेरे भक्तोंकी सब आधि और व्याधियां नष्ट हो जाती हैं ॥ ७४-७५ ॥ हे द्विजो ! जो भक्तिभावसे संयत और तपपरायण होकर भलीभांति इसका सार्थक पाठश्रवण अथवा इसके द्वारा गणपतियागका अनुष्ठान सदा करते हैं उन जीवोंके ऐसे कोई बाधा, विपत्ति और विघ्नसमूह नहीं हैं जो शीघ्रही दूर न हो सकें, हे विप्रवरो ! इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ७६-७८ ॥ मेरे आर्त्त जिज्ञासु और अर्थार्थी तीनों प्रकारके भक्त ही इस गीताके

त्रिविधा एव मे भक्ता एतद्गीताश्रयेण हि ॥ ७९ ॥
स्वमनोरथसाफल्यं लभेरन्नात्र संशयः ।
तथैवास्याश्च गीतायाः श्रवणान्मननात्तथा ॥ ८० ॥
निदिध्यासनतः नूनं ज्ञानिभक्ताश्च मामकाः ।
अपरोक्षानुभूत्या मे दर्शनं कर्त्तुमीशते ॥८१॥
चतुर्वर्णाश्रमस्थानां स्वधर्म्मासक्तचेतसाम् ।
जीवानां किंतु वक्तव्यं श्रद्धालूनां मयि ध्रुवम् ॥ ८२ ॥
सर्वेषामेव जीवानां चतुर्वर्गफलप्रदा ।
वर्त्तते धीशगीतेयं सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ८३ ॥

इति श्रीधीशगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
धीशर्षिसंवादे विराट्स्वरूपनिरूपणं नाम
सप्तमोऽध्यायः ।

समाप्तेयं श्रीधीशगीता ।

आश्रयसे ही निःसन्देह सफलमनोरथ होंगे और उसी प्रकार मेरे ज्ञानीभक्त भी इस गीता के श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा अपरोक्षानुभूतिसे मेरे दर्शन करनेमें अवश्य समर्थ होंगे ॥ ७९-८१॥ चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके स्वधर्म्मानुरत जीवोंकी तो बात ही क्या है मुझमें अटल श्रद्धा रखनेवाले जीवमात्रको ही यह धीशगीता चतुर्वर्गफलप्रद है। यह सत्य है सत्य है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ८२-८३ ॥

इस प्रकार श्रीधीशगीतोपनिषद्के ब्रह्मविद्यासम्बन्धि
धीशर्षिसम्वादात्मक योगशास्त्रका विराट्स्वरूप-
निरूपण नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

यह श्रीधीशगीता समाप्त हुई।